योगविद्या

वर्ष 11 अंक 9
सितम्बर 2022
सदस्यता डाकखर्च – रु100

बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, बिहार, भारत

हरि: ॐ

योगविद्या का सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के संन्यासी शिष्यों द्वारा स्वास्थ्य लाभ, आनन्द और प्रकाश प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए किया जाता है। इसमें बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान के क्रियाकलापों की जानकारियाँ प्रकाशित की जाती हैं।

सम्पादक – स्वामी ज्ञानसिद्धि सरस्वती

योग विद्या मासिक पत्रिका है। देर से सदस्यता ग्रहण करने पर भी उस वर्ष के जनवरी से दिसम्बर तक के सभी अंक भेजे जाते हैं।

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर, 811201, बिहार, द्वारा प्रकाशित।

थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, फरीदाबाद, 121007, हरियाणा में मुद्रित।

© Bihar School of Yoga 2022

पत्रिका की सदस्यता एक वर्ष के लिए पंजीकृत की जाती है। कृपया अपने आवेदन अथवा अन्य पत्राचार निम्नलिखित पते पर करें –

बिहार योग विद्यालय
गंगा दर्शन,
फोर्ट, मुंगेर, 811201
बिहार

✉ अन्य किसी जानकारी हेतु स्वयं का पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।

कुल पृष्ठ संख्या : 56 *(कवर पृष्ठों सहित)*

कवर एवं अन्दर के प्लेट:
श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के प्रति गुरु-भाइयों की श्रद्धांजलि

सत्यम्!
ओ दिव्य जीवन के कलाकार!
तुम हो सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के प्रतीक,
कर्म और शान्ति के अवतार,
भाषा, साहित्य और धर्म के प्राण,
महाप्राण गुरुदेव के तुम देवदूत,
तुम धन्य हो!
चिरंजीव रहो, और
चिरन्तन युगों तक
अपनी कठोर तपस्या की शक्ति से,
पवित्र साधना की दीप्ति से,
विशाल ज्ञान के भण्डार से
अखिल विश्व का विशाल पथ
ज्योतित करते रहो!

– श्री महेन्द्र, प्रयाग

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर–811201, बिहार के लिए स्वामी शिवध्यानम् सरस्वती द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित
मुद्रक – थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, 18/35 माइलस्टोन, दिल्ली मथुरा रोड, फरीदाबाद–121007, हरियाणा
स्वामित्व – बिहार योग विद्यालय **सम्पादक** – स्वामी ज्ञानसिद्धि सरस्वती

योगविद्या

वर्ष 11 अंक 9 सितम्बर 2022
(प्रकाशन का 60 वाँ वर्ष)

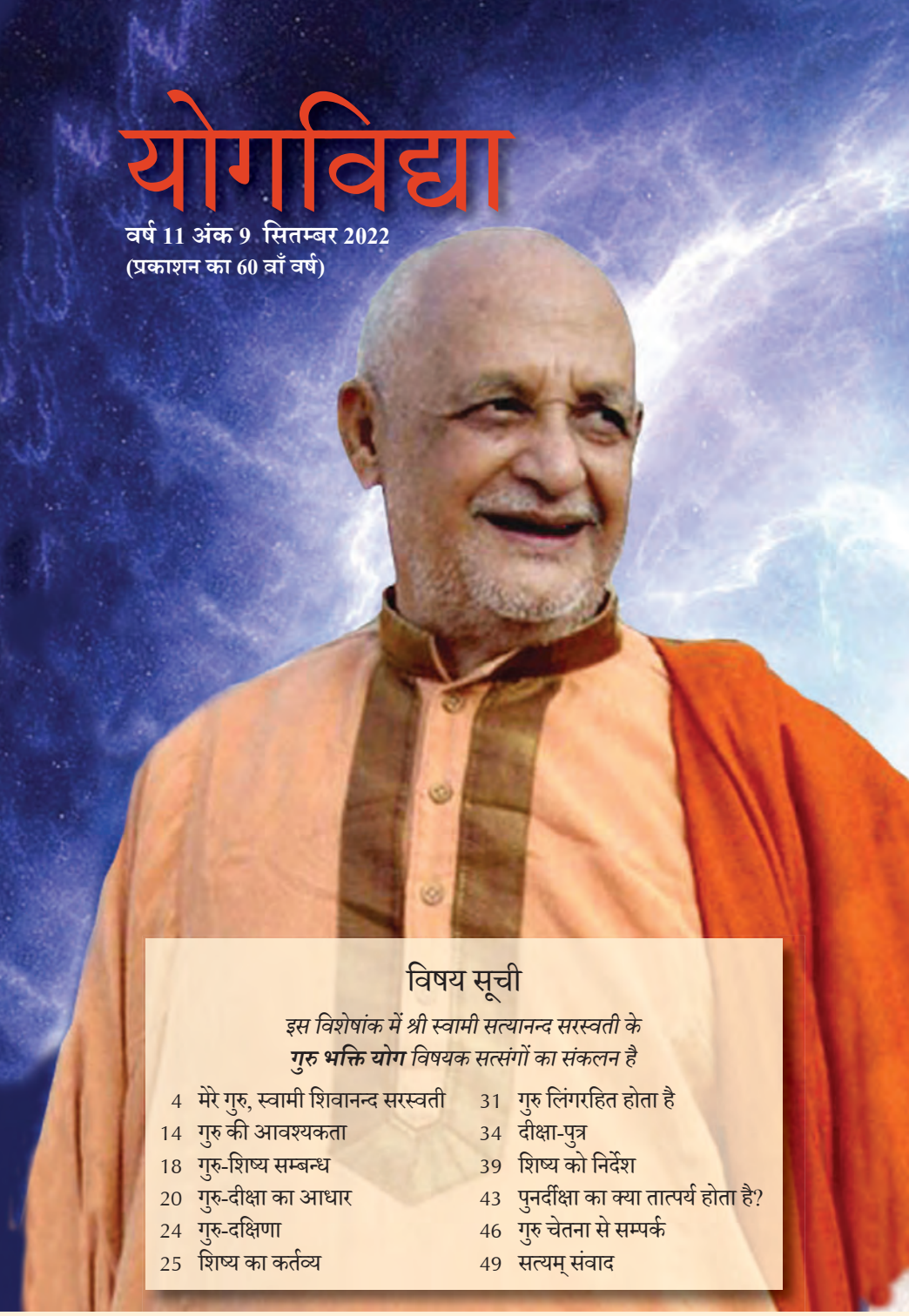

विषय सूची

इस विशेषांक में श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के
***गुरु भक्ति योग** विषयक सत्संगों का संकलन है*

4 मेरे गुरु, स्वामी शिवानन्द सरस्वती
14 गुरु की आवश्यकता
18 गुरु-शिष्य सम्बन्ध
20 गुरु-दीक्षा का आधार
24 गुरु-दक्षिणा
25 शिष्य का कर्तव्य
31 गुरु लिंगरहित होता है
34 दीक्षा-पुत्र
39 शिष्य को निर्देश
43 पुनर्दीक्षा का क्या तात्पर्य होता है?
46 गुरु चेतना से सम्पर्क
49 सत्यम् संवाद

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

मेरे गुरु, स्वामी शिवानन्द सरस्वती

संसारभर में स्वामी शिवानन्द जी की जन्म-शताब्दी मनायी जा रही है। इस अवसर पर समस्त योगप्रेमी उन महान् आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करेंगे। वे अपने भौतिक शरीर से तो विद्यमान नहीं हैं, लेकिन अगणित व्यक्तियों के हृदय-मन्दिर में उनकी मानसिक मूर्त्ति सदा-सर्वदा के लिए प्रतिष्ठित है। असंख्य साधक उनके द्वारा उद्घाटित ज्ञान के लिए उनके ऋणी हैं। दिव्य जीवन संघ के लिए ऐसी महान् विभूति की जन्मशताब्दी मनाना नितान्त उचित ही है।

किसी कवि ने कहा है, 'महापुरुषों के जीवन की घटनाएँ हमें अपने जीवन को उदात्त बनाने की प्रेरणा देती हैं।' समय की रेत पर महापुरुष अपने चरण-चिह्न छोड़ते जाते हैं, परन्तु सभी इन चरण-चिह्नों को नहीं देख पाते हैं। इसका एक कारण है – उनका अज्ञान-पवन इन चिह्नों को मिटा देता है। हम अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं क्योंकि हम स्वयं इन चरण-चिह्नों को देख पा रहे हैं और उनका अनुगमन कर रहे हैं।

स्वामी शिवानन्द जी ने एक पूर्ण जीवन व्यतीत किया। ईसामसीह के स्तर के महान् सन्त, उच्चस्तरीय प्रशासक, पूर्णत: विरक्त संन्यासी, दयालुता, प्रेम तथा दानशीलता के भावों से परिपूरित महामानव, भावुक भक्त, असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न दार्शनिक, कठोर अनुशासनप्रिय, परन्तु साथ ही जड़-चेतन सभी प्राणियों पर करुणा की वर्षा करने वाले महापुरुष – यह सब एक साथ थे वे।

ऐसे ही महान् व्यक्ति हमारे जीवन का अनुकरणीय आदर्श बन सकते हैं। हममें से अधिकांश दैनिक जीवन की समस्याओं से ग्रस्त हैं, अपने मनोविकारों के प्रवाह में बहे जा रहे हैं तथा जीवन के उतार-चढ़ावों ने हमें निराश कर दिया है। निष्कपट, सच्चे मनुष्यों के समक्ष यह प्रश्न निश्चित उठ खड़ा होता है – इन सीमाओं के रहते हुए कैसे हम जीवन के चरमोत्कर्ष पर पहुँचें? जीवन की निष्ठुरता से निराश हुए ऐसे ही मनुष्यों के लिए स्वामी शिवानन्द एक प्रकाशस्तम्भ के समान थे। स्वामीजी के बारे में श्रवण करना ही आनन्द है, उनके सम्बन्ध में सोचना ही योग है, उनकी चर्चा करना ही समय का सदुपयोग है। यद्यपि उनका एक भौतिक शरीर था, परन्तु उनकी आत्मा भौतिकता से कोसों दूर थी। उनकी उपस्थिति मात्र से आन्तरिक जागरूकता विकसित होने लगती थी।

उपनिषदों की एक कथा में शिष्य गुरु से पूछता है, 'मनुष्य किस प्रकार गतिमान होता है?' गुरु ने उत्तर दिया, 'सूर्य के प्रकाश में।' शिष्य ने पूछा, 'परन्तु जब सूर्य अस्त हो जाता है तब?' गुरु ने कहा, 'चन्द्रमा के प्रकाश में।' शिष्य ने पुन: प्रश्न किया, 'जब सूर्य और चन्द्र दोनों ही अस्त हो जाते हैं, उस समय वह कैसे गतिमान होता है?' गुरु का उत्तर था, 'तारों के प्रकाश में।' शिष्य ने फिर पूछा, 'जब सूर्य, चन्द्र, तारे, कोई भी नहीं होते, तब?' गुरु ने कहा, 'तब वह अपने ही प्रकाश में गतिमान होता है।'

यह कौन-सा प्रकाश है? जब मन विकारों से ग्रस्त हो जाता है, जब बुद्धि भ्रमित हो जाती है, जब हमारी अपनी ही आस्थाएँ हमें निराश करने लगती हैं, जब हमारी अपनी ही धारणाएँ हमारे लिए अवरोधक सिद्ध होती हैं, उस स्थिति में हमारे लिए अपनी चेतना के स्तर को उन्नत करना अनिवार्य हो जाता है, अपनी आत्मा को जाग्रत करना आवश्यक हो जाता है। इस उपलब्धि के लिए किसी सद्गुरु का मार्गनिर्देशन प्राप्त करना अपरिहार्य है। स्वामी शिवानन्द जी इसी प्रकार के सद्गुरु थे। अपने आन्तरिक प्रकाश को जाग्रत करने के आकांक्षी साधकों के लिए उनके जीवन-सन्देश तथा उपदेश अँधेरे में ज्योति के समान हैं।

अत्युत्तम महामानव

अन्य सन्त-महात्माओं की तुलना में स्वामी शिवानन्द जी का एक अलग ही व्यक्तित्व था। उन्होंने कभी भी चमत्कारी गुरु या उपदेशक या धर्मगुरु की तरह व्यवहार नहीं किया। वे एक साधारण व्यक्ति की तरह रहे तथा अगणित सद्गुणों के जाज्वल्यमान उदाहरण बन कर चमके।

मैं सोचता हूँ कि सन्त बनने की अपेक्षा मानव बनना अधिक महत्त्वपूर्ण है। गुरु बन जाना या दूसरों से मान-सम्मान प्राप्त करना सरल है, परन्तु मानव बनना कठिन। दान कठिन है, प्रेम करना कठिनतर है तथा बोध प्राप्त करना कठिनतम। आज मानव अपनी मूलभूत मानवता को ही नहीं समझ पा रहा है। मानव यदि मानव बन सके, तो वह सब कुछ बन सकता है। मानव बनने के लिए उसे अपने व्यक्तित्व के आसुरी पक्ष का निर्मूलन करना पड़ेगा। बाँस की बाँसुरी को बिल्कुल खाली करने के बाद ही उससे मोहक स्वर उत्पन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार आपको भी स्वयं को रिक्त करना पड़ेगा। आपको अपमान तथा आलोचना सहन करने के लिए तथा विभिन्न मनोविकारों के राक्षसों के बीच विभीषण बनकर रहने के लिए तैयार होना पड़ेगा। अपने भय को समाप्त करके आपको दूसरों के द्वारा उत्पीड़ित होने के लिए भी तैयार होना पड़ेगा। दूसरों से आपको प्रेम या सम्मान प्राप्त करने की आशा नहीं रखनी चाहिए।

जब लोग प्रेम की चर्चा करते हैं, तब मुझे हँसी आती है। अभी तक मैं किसी ऐसे व्यक्ति से नहीं मिल पाया हूँ, जो प्रेम का वास्तविक अर्थ समझता

हो। हाँ, पर मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि स्वामी जी के व्यक्तित्व से प्रेम की किरणें फूटती थीं। वे भावुक कदापि नहीं थे। वे थे नितान्त शान्त, अक्षुब्ध, अनुद्विग्न तथा पूर्णत: निर्लिप्त। मेरी दृष्टि में वे एक अत्युत्तम महामानव थे। मैंने ईसामसीह को कभी नहीं देखा, परन्तु मैंने स्वामी शिवानन्द को देखा है और इसी कारण मैं विश्वास करता हूँ कि ईसामसीह अवश्य ही इस धरती पर कभी आये होंगे। स्वामी शिवानन्द एक ऐसे महापुरुष थे, जिनके पास करुणा का असीम कोष था। उनका स्वभाव मधुर था तथा वे सदैव मुस्कुराते रहते थे। नहीं, यह कहना पर्याप्त न होगा, वे स्वयं मधुरता थे, स्मित के मूर्त्त रूप ही थे।

उन्होंने जो कुछ किया, केवल इस उद्देश्य से कि उससे दूसरों का कल्याण हो। वे डिक्टेटर नहीं थे, न कभी अपने शिष्यों की कार्यप्रणाली में हस्तक्षेप करते थे। वस्तुत: जिस प्रकार शिष्य अपने गुरु के चरणों का स्पर्श करते हैं, उसी प्रकार वे भी शिष्यों के चरणों का स्पर्श किया करते थे। आश्रमवासी तथा प्रशासक के रूप में मैंने कई बार गलतियाँ की थीं। मुझे लगता कि वे मुझे बुलायेंगे और मेरी भर्त्सना करेंगे या सही-गलत के बारे में समझायेंगे, लेकिन उन्होंने कभी भी मुझे बुलाकर मेरी गलतियों के बारे में एक शब्द तक नहीं कहा। मैं जब भी उनके पास गया, उन्होंने सामान्य ढंग से वार्त्तालाप किया – मेरी गलतियों के बारे में कभी चर्चा नहीं की।

वे कहा करते थे – प्रत्येक व्यक्ति में एक दिव्य स्फुलिंग रहता है। दूसरों के प्रति उनकी धारणा बड़ी अनूठी थी। यदि कोई अपनी आलोचना से उद्विग्न हो जाता, तो वे इस प्रकार समझाया करते थे, 'यह एक दिव्य परीक्षा है। जब तुम लोहे का कोई टुकड़ा खरीदते हो, तब अधिक जाँच-परख नहीं करते। जब तुम सोना खरीदते हो, तब सावधानीपूर्वक उसका निरीक्षण करते हो और जब तुम हीरा खरीदते हो, तो जो भी हीरा सामने पड़ जाये, उसे उठा नहीं लेते। इसी प्रकार, जब परमात्मा तुम्हें अपने लिए चुन रहा है, वह तुम्हारी जाँच-परख करेगा ही। तुम्हारे कर्मों या तुम्हारे दोषों के कारण तुम्हें आलोचना का सामना नहीं करना पड़ रहा है। यह तो तुम्हारी दिव्य परीक्षा है। इसमें उत्तीर्ण हो जाओगे, तो तुम्हें उच्चतर प्रज्ञा का पुरस्कार मिलेगा।'

दो, दो, अवश्य दो

स्वामी शिवानन्द जी ने मलेशिया में चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया था। ऋषिकेश आने के पश्चात् वे अध्यात्म-जीवन में पूर्णत: निमग्न हो गये। वे इतने

निष्कपट तथा सच्चे थे कि आसपास रहने वाले संन्यासी उनसे अत्यधिक प्रभावित रहते थे। कभी-कभी वे अपनी दैनिक भिक्षा से कुछ रोटियाँ बचा कर एक बक्से में रख लेते थे। जब पर्याप्त संख्या में रोटियाँ एकत्र हो जातीं, तब वे अपनी कुटिया का द्वार बन्द करके कई-कई दिनों के लिए अपनी व्यक्तिगत साधना में रत हो जाते थे। कभी-कभी अर्धरात्रि के समय सीने तक गंगा-जल में खड़े-खड़े उन्हें ॐ का उच्चारण करते देखा जाता था।

अध्यात्म-जीवन के प्रति अपने पूर्ण समर्पण के कारण वे सभी संन्यासियों के प्रिय बन गये थे। प्रतिक्रियास्वरूप कुछ दुर्जन उन्हें उत्पीड़ित करने लगे, यहाँ तक कि उन्हें चोट भी पहुँचाने लगे। उनके प्रति स्वामी जी का रुख असाधारण तथा अतिमानवीय था। वे कहा करते थे, 'यदि कोई तुम्हें ठोकर मारे, तो तुम प्रेम दो।' इसी सिद्धान्त को वे व्यवहार में लाते थे। बाद में जब स्वामी जी ने ख्याति अर्जित कर ली थी, वे उन्हीं दुर्जनों को खूब मान-सम्मान दिया करते थे।

स्वामी जी अत्यन्त उदार थे। कोई कुछ भी माँगता, वे अवश्य देते थे। उनका सिद्धान्त था – दो, दो, अवश्य दो। यदि उन्हें पता भी होता कि माँगने वाला व्यक्ति सुपात्र नहीं है, तो भी वे इस पर कोई ध्यान नहीं देते। वे केवल इतना ही कहते थे, 'वह उसका कर्म है, और यह मेरा।' वे उदारतापूर्वक भोजन, धन, पुस्तकें, वस्त्र आदि वितरित किया करते थे। जब कभी कोई कहता, 'स्वामी जी, यह व्यक्ति दुष्ट प्रकृति का है, इसे कुछ भी न दें।' तब वे कहते, 'भगवान ने मुझे उसे ही देने के लिए दिया है। धन, आश्रम, कुछ भी मेरा नहीं है।'

ज्ञानी तथा भक्त

स्वामी शिवानन्द जी वेदान्त-दर्शन में आस्था रखने वाले संन्यासी थे। वेदान्त-दर्शन 'अहं ब्रह्मास्मि' के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है। यह मूर्त्तिपूजा का समर्थन नहीं करता। यह शुद्ध अद्वैतवादी दर्शन है। इसके अनुसार सत्य नाम-रूप-रहित है तथा समस्त प्रकार के अनुभव मन में ही होते हैं। स्वामी शिवानन्द जी परमतत्त्व के दर्शन का प्रतिपादन करने वाले शुद्ध ज्ञानी तथा परम भक्त, दोनों ही थे। वे कहा करते थे, 'भगवद्भक्ति तथा भगवन्नाम-उच्चारण ही सांसारिक चेतना के अवरोधों से मुक्ति दिला सकते हैं।' भगवन्नाम में उनकी आस्था का अनूठा प्रमाण यह है कि वर्ष 1943 में उन्होंने शिवानन्द आश्रम में भगवन्नाम के अखण्ड कीर्तन का शुभारम्भ किया। उस समय तक आश्रम में एक हॉल ही निर्मित हो पाया था और हम सब कुल मिलाकर सात-आठ

संन्यासी थे। हॉल में एक दीपक जला दिया गया था, वह अखण्ड रूप से जला करता था। प्रत्येक संन्यासी को दो-दो घण्टे की पाली में कीर्तन करना होता था। कीर्तन के लिए स्वामी जी ने महामन्त्र को चुना था। उन्होंने उसकी धुन भी निश्चित कर दी थी।

आश्रम के उद्घाटन के अवसर पर स्वामी जी ने कहा था, 'यह कीर्तन तब तक जारी रहेगा, जब तक संसार का अस्तित्व है।' यह सुनकर हम लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ था – अखण्ड कीर्तन की यह अन्तहीन अवधि! और, सचमुच आज भी यह विशिष्ट कार्यक्रम आश्रम के विभिन्न कार्यक्रमों का केन्द्र-बिन्दु है।

निश्छल व्यक्तित्व

स्वामी शिवानन्द प्रत्येक व्यक्ति पर विश्वास रखते थे। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि कोई व्यक्ति खराब भी हो सकता है। उन्होंने कभी दूसरों के समक्ष अपने को किसी महान् स्वामी के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। उनमें न अहंमन्यता थी और न कोई आकांक्षा। अगणित लोग उनके पास आते थे तथा उनसे अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त करते थे, परन्तु वे सदैव यही कहते थे – 'यह भगवान की कृपा है।' उनके भक्त कहते थे, 'स्वामी जी, आप सिद्ध पुरुष हैं, महान् आत्मा हैं। आपके आशीर्वाद से मेरी सभी कठिनाइयाँ दूर हो गयीं।' वे उत्तर देते, 'नहीं, नहीं, यह ईश्वर की कृपा है और आपका प्रारब्ध है, जिसने आपकी सहायता की है।'

वे पूर्ण भक्त थे। उनका हृदय निष्कपट था। जब कोई व्यक्ति उन्हें अपनी कठिनाइयों के बारे में लिखता या स्वयं मिलकर अपनी समस्याएँ उनके समक्ष रखता, वे तुरन्त अपने आस-पास उपस्थित लोगों से बैठकर मंत्र-जप करने के लिए कहते। मंत्र पर उनकी इतनी अधिक आस्था थी कि जप की समाप्ति के तुरन्त बाद वे सम्बन्धित व्यक्ति को पत्र लिखवाते – हमने आपके लिए प्रार्थना की है और आपकी समस्याएँ सुलझ जायेंगी। उनकी मंत्र पर अगाध आस्था थी – न होती तो वे कैसे इस प्रकार किसी को लिख सकते थे?

आस्था सदैव निष्कपट होती है। निष्कपटता में बहुत शक्ति होती है। इसी कारण सन्तों के जीवन में चमत्कार घटित होते हैं। निष्कपटता बचकानी प्रवृत्ति नहीं है। यह व्यक्तित्व में शुद्धता का पुष्पित होना है। निष्कपट होने के लिए कुछ 'करना' नहीं पड़ता, कुछ 'बनना' नहीं पड़ता। बस, जो कुछ अपने पास है – बुद्धि, धन, शक्ति, प्रतिष्ठा तथा सभी तरह की आस्थाएँ, उनसे मुँह मोड़

लेना होता है, यह मान लेना होता है कि मैं कुछ नहीं हूँ। जब आप यह मनोवृत्ति अपना लेते हैं, तब यह निष्कपटता आपकी आस्था की आधारशिला बन जाती है। स्वामी शिवानन्द जी में यह आस्था न केवल विद्यमान थी, बल्कि प्रबल और जीवन्त थी।

दूसरे से सीखने का सद्गुण

शिवानन्दाश्रम के अन्तेवासी के रूप में मैं बृहदारण्यक उपनिषद पर टीका लिख रहा था। संस्कृत तथा दर्शन का बौद्धिक ज्ञान-भण्डार मेरे पास था, परन्तु फिर भी इस कार्य में मुझे कठिनाई हो रही थी। जब-जब अपनी कठिनाइयाँ लेकर मैं स्वामी जी के पास जाता, तब-तब वे मुझे पूज्य तपोवनम् जी महाराज के पास भेज दिया करते थे। स्वामी तपोवनम् जी स्वामी जी के शिष्य नहीं थे, न वे ऋषिकेश में ही निवास करते थे। वे गंगोत्तरी के मार्ग पर स्थित उत्तरकाशी में रहा करते थे। वे संस्कृत के विद्वान् तथा उपनिषदों के प्रबुद्ध ज्ञाता थे।

अपने जीवन-काल में स्वामी शिवानन्द जी ने तीन-चार सौ पुस्तकें लिखीं। जब तक मैं उनके सान्निध्य में रहा, वे लगभग 250 पुस्तकें लिख चुके थे, परन्तु वे अपने को सर्वज्ञ नहीं मानते थे। यदि गुरु शिष्य की ज्ञान-पिपासा के अनुरूप उसे किसी उपयुक्त अधिकारी व्यक्ति के पास नहीं भेजता तो वह शिष्य को भ्रम में ही डालता है। स्वामी शिवानन्द जी मुझे स्वयं मार्गदर्शन दे सकते थे, परन्तु वे मेरे शुभचिन्तक थे और उन्होंने मुझे स्वामी तपोवनम् जी महाराज के पास ही भेजना उचित समझा।

जब कभी स्वामी तपोवनम् जी ऋषिकेश आकर ठहरते, स्वामी जी मुझसे कहते, 'स्वामी तपोवनम् के पास जाओ और उनसे कुछ सीखकर आओ।' तब मैं उनके पास जाता, दर्शन और संस्कृत-व्याकरण-सम्बन्धी अनेक शंकाओं को लेकर। लौटते समय स्वामी जी मुझे प्रतीक्षा करते हुए मिलते। वे कहते, 'तुमने क्या-क्या पूछा और उन्होंने क्या-क्या बतलाया?' मैं उन्हें सब-कुछ बता देता। जो कुछ मैं बताता, स्वामी जी उसे नोट कर लेते और उसे टाइप करवा लेते थे।

प्रबुद्ध किन्तु विनम्र

इस संसार में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो यह समझते हैं कि वे सब-कुछ जानते हैं। दूसरों से सीखने के रचनात्मक प्रभावों से वे अपरिचित हैं। यदि आप उनसे किसी नये ज्ञान की चर्चा करें तो वे कहेंगे, 'इसे तो मैं पहले ही जानता था।' यह मानव-स्वभाव की एक विचित्रता है। यह उसकी अन्तर्निहित अहंमन्यता का ही एक रूप है, और जहाँ अहंमन्यता होगी, वहाँ अज्ञान अवश्य ही होगा।

सभी धर्मग्रन्थों में एक स्वर से कहा गया है – अहंमन्यता का ज्ञान से जरा भी सम्बन्ध नहीं है। अहंमन्यता शैतान की सन्तान है। जहाँ ज्ञान होगा, वहाँ विनम्रता होगी। आप जितने अधिक प्रबुद्ध होंगे, उतने ही अधिक विनम्र बन जायेंगे। सन्त-महात्माओं के ही लिए नहीं, कलाकारों, कवियों, राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों – सभी के लिए यह बात सत्य है। आप जितना ही अधिक ज्ञान और प्रबोधन प्राप्त करेंगे, अपने बारे में उतना ही कम सोचेंगे। जब आप यह समझने लगेंगे कि आप कुछ नहीं हैं, तब अहंमन्यता आपके पास कैसे टिक पायेगी?

न्यूटन अपनी उपलब्धियों के बारे में कहा करते थे, 'मैं तो किनारे पड़े पत्थर ही बटोर पाया हूँ, सागर तो अभी अछूता ही पड़ा है।' जो व्यक्ति प्रबुद्ध तथा सत्यनिष्ठ होता है, वह हर प्रकार के ज्ञान को ग्रहण करने के लिए तैयार रहता है – ज्ञान के स्रोत चाहे सन्त-महात्मा हों चाहे पापीजन। महात्मा तथा पापी के वर्गीकरण मात्र सामाजिक स्तर तक ही मान्य होते हैं। एक माता के लिए इस बात का क्या महत्त्व कि उसकी सन्तान पुत्र है या पुत्री, स्वस्थ है या रोगी, महात्मा है या पापी?

सन्त-महात्मा कभी दूसरों की आलोचना नहीं किया करते। आसक्तियों या पूर्वाग्रहों के कारण उन्हें कभी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। आध्यात्मिक स्तर पर ही वे परस्पर एक-दूसरे को प्रभवित करते हैं। वस्तुत: सन्तों के विषय में कुछ कहना अत्यन्त कठिन है। वे हिमशैलों की तरह होते हैं, जिनका थोड़ा-

सा ही भाग दृष्टिगोचर होता है, शेष भाग तो जल में ही डूबा रहता है। इसी कारण स्वामी शिवानन्द जी के व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन करना निश्चित ही सम्भव नहीं है। उनके साथ मैं अल्पकाल तक ही रहा, परन्तु उन्होंने मेरी समूची जीवन-धारा को रूपान्तरित कर दिया।

योग तरी तीरे-तीरे

सन् 1956 में एक दिन स्वामी शिवानन्द जी ने मुझे बुलाया और पूछा, 'तुम क्या साधना करते हो?' मुझे आश्रम में रहते हुए बारह साल हो चुके थे। इस अवधि में एक बार भी उन्होंने मुझसे यह प्रश्न नहीं पूछा था। मैं आसन, प्राणायाम आदि का अभ्यास किया करता था, परन्तु गुरु के आदेश से नहीं। यह मेरी व्यक्तिगत रुचि की बात थी। मंत्र-जप भी मैंने बहुत बड़ी संख्या में किया था। साथ ही अहर्निश कर्मयोग में भी डूबा रहा था।

मैंने उत्तर दिया, 'आसन, प्राणायाम तथा मंत्रजप करता हूँ।' कुछ अन्य चीजें जो मैंने अपनी साधना में सम्मिलित कर रखी थीं, उनके बारे में भी मैंने बताया। 'तुम क्रियायोग का अभ्यास नहीं करते?' उन्होंने पूछा। 'जी नहीं', मैंने कहा, 'मैंने इसके बारे में सुना अवश्य है, परन्तु जानता कुछ भी नहीं हूँ।'

वे मुझे अपने कुटीर में ले गये और दस मिनट के अन्दर मुझे क्रियायोग सिखला दिया। फिर उन्होंने मुझे 108 रुपये दिये और कहा, 'अब तुम आश्रम छोड़ सकते हो। अब यह स्थान तुम्हारे लिए नहीं है। भ्रमण करो और द्वारे-द्वारे, तीरे-तीरे योग का सन्देश प्रचारित-प्रसारित करो।' मैंने आश्रम छोड़ दिया और कई वर्षों तक भारत और समीपवर्ती देशों में परिव्राजन करता रहा।

आन्तरिक जागरण

सन् 1963 में 14 जुलाई को एकाएक मेरे आन्तरिक जागरण ने मुझे झकझोर दिया। उस समय मैं मुंगेर, बिहार में था, लेकिन अपने मानसपटल पर मैं देखने लगा कि मैं ऋषिकेश में हूँ। गंगातट पर पानी का एक जहाज मेरी ओर चला आ रहा है। स्वामी शिवानन्द जी उस जहाज की छत पर खड़े हैं और नमस्कार की मुद्रा में हाथ जोड़े हुए हैं। तुरहियाँ बज रही हैं, शंख-ध्वनि हो रही है, ढोल-मृदंगों की थापें सुनायी पड़ रही हैं। जहाज मेरे बहुत निकट आ गया है। जहाज का फ्लाई-व्हील तेजी से मेरे सिर, गर्दन और शरीर पर पानी उछाल रहा है ... झाँकी समाप्त हुई। मैं समझ गया कि स्वामी शिवानन्द जी ने अपने भौतिक शरीर का

परित्याग कर दिया है और इस प्रकार दर्शन देकर उन्होंने मुझे अपना आशीर्वाद प्रदान किया है। उसी दिन मैंने अपना झोला सँभाला, स्टेशन पहुँचा, टिकट खरीदा और ऋषिकेश के लिए प्रस्थान किया। मेरा अनुमान ठीक निकला। ऋषिकेश पहुँचने पर मुझे पता चला कि स्वामी जी इस संसार से विदा ले चुके हैं।

तबसे आज तक प्रति वर्ष कम-से-कम एक-दो बार मैं अन्दर से जाग उठता हूँ। उस समय मुझे जो अनुभव होता है, वह नितान्त सत्य, मूर्त्त तथा गहन होता है। वह सपना नहीं होता, कल्पना नहीं होता और सम्मोहन भी नहीं होता, वह बिल्कुल वास्तविक होता है। अपने इस अनुभव-क्षेत्र में मैं स्वामी जी के दर्शन करता हूँ, उनसे वार्त्तालाप करता हूँ और उनसे स्पष्ट मार्गदर्शन प्राप्त करता हूँ।

मेरा जीवन असाधारण रहा है। मुझे कभी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। इसलिए जब मैं गुरु के दर्शन करता हूँ, तब मेरे मन में किसी प्रकार की कामना नहीं होती। कई बार मैंने सोचा है कि मैं उनसे कुछ माँगूँ, लेकिन माँगूँ तो क्या? उन्होंने मुझे सब कुछ दिया है – और जो नहीं दिया उसके बारे में लगता है कि वह मेरे पास होना भी नहीं चाहिए। स्वामी शिवानन्द जी के साथ मेरे सम्बन्धों का मुख्य लक्ष्य आत्मानुसन्धान ही रहा है। उनके सान्निध्य में व्यतीत किये गये बारह वर्षों की अवधि में अपनी अहंमन्यता का नाश करके, मनोवेगों को शान्त करके, कामनाओं के प्रवाह को नियंत्रित करके तथा अपने अज्ञान का नाश करके मैंने अपने आन्तरिक दर्पण की मलिनता दूर की है। गुरु-सेवा किये बिना यह कैसे सम्भव हो पाता?

– दिव्य जीवन संघ, ऋषिकेश द्वारा 1987 में प्रकाशित
'स्वामी शिवानन्द जन्मशताब्दी स्मृतिग्रंथ' से साभार

गुरु की आवश्यकता

गुरु की आवश्यकता सबको होती है। चाहे कोई भौतिक विज्ञान का छात्र हो या रसायन विज्ञान का या किसी अन्य शास्त्र का, किताबों के अलावा एक सिखलाने वाले की आवश्यकता सभी को पड़ती है। मान लो, तुम मोटर गाड़ी सीखना चाहो तो मोटर गाड़ी सीखने के बहुत-से मैन्यूवल हैं जो अच्छी तरह से लिखे भी जाते हैं। लेकिन अच्छी पुस्तक पढ़ने के बाद अगर तुम मोटर गाड़ी चलाने लगोगे तो कहीं-न-कहीं दुर्घटना ग्रस्त अवश्य होगे। कहने का मतलब यह कि गुरु ज्ञान-प्राप्ति के लिये अनुभव का एक तत्त्व है। अनेक लोग हैं जो आध्यात्मिक जीवन के बारे में बहुत कुछ जानकारी रखते हैं। उन्होंने दर्शन, उपनिषदों, वेदों और अन्य साहित्यों का अध्ययन किया है, उनसे अगर तुम पूछोगे तो वे सब बतला भी देंगे, परन्तु उन्होंने उसका अनुभव नहीं किया है।

गुरु का अर्थ होता है, प्रकाश के द्वारा अंधकार को दूर करने वाला। हमारी संस्कृति में आचार्य और गुरु, दोनों अलग-अलग अर्थ रखते हैं। जो तुम्हें विद्या देता है वह आचार्य है, किन्तु जो अनुभव का मार्ग बतलाता है, वह गुरु है। इस देश या धर्म में ही नहीं, प्राचीन काल से ही मनुष्य समाज में एक परम्परा चली आ रही है और वह परम्परा कैसी है? एक है शास्त्र परम्परा और दूसरी है गुरु परम्परा। शास्त्र परम्परा में वेद, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आते हैं। उसमें ज्ञान की सब बातें भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखी गई हैं, कहानियों, चुटकुलों, दृष्टांतों के द्वारा समझायी गई हैं, मगर वे बातें इतनी हो जाती हैं कि समझ में नहीं आता है कि हम अपनी बुद्धि कहाँ पर टिकायें।

उदाहरण स्वरूप मान लो तुम एक जौहरी की दुकान में गये हो। अब वहाँ इतनी चीजें रखीं हैं कि तुम घबरा गये कि क्या लेना है। अगर तुम्हारे साथ कोई जवाहरात को जानने वाला हो कि यह मोती है, यह हीरा है, यह सोना है तो वह तुम्हें पाँच मिनट में बतला देगा कि यह उठा लो, क्योंकि वह जानता है कि तुम्हारी आमदनी कितनी है, आवश्यकता कितनी है। उसी प्रकार गुरु शिष्यों के अधिकार को समझकर शास्त्र में से सत्य को चुनकर बतलाता है।

शास्त्र में तो अवधूत, अघोरी, जीवन मुक्त और अवतार जैसी बहुत-सी स्थितियाँ और अवस्थाएँ वर्णित हैं, और कुछ ऐसे सन्त-महात्मा भी हैं जो खुद प्यासे रहते हैं और दूसरे को पानी पिलाते हैं। ऐसा सब तो नहीं कर सकते।

एक स्थिति है वितृष्णा की और हम लोग वितृष्णा की स्थिति में नहीं हैं। हम लोग तो तृष्णा देवी के रूप में हैं। ऐसी अवस्था में जो साधना हमें गुरु बतायेंगे वह हमारी स्थिति जानकर बतायेंगे।

इसके अलावा मनुष्य के अन्दर एक तत्त्व है जिसको कहते हैं आत्मा। यह आत्मा रूप, रंग, गंध एवं नाम रहित है। उसका न देश है, न काल है, न स्वरूप है, न जाति है, उसका कुछ नहीं है फिर भी वह है। अब सवाल उठता है कि जो है, लेकिन जिसका किसी प्रकार का अस्तित्व प्रतीत नहीं होता, उसे जगाओगे कैसे? मन को कैसे पकड़ोगे, भावना को कैसे पकड़ोगे, जन्म-जन्म के संस्कारों को कैसे पकड़ोगे, आत्मा को कैसे पकड़ोगे, कैसे जगाओगे? इसके लिए लोगों ने क्या किया? बहुत-से उपाय ढूँढते-ढूँढते एक उपाय ढूँढ निकाला। अगर बारूद हैं वहाँ पर तो उसका डेटोनेटर, उसका विस्फोटक हो यहाँ पर।

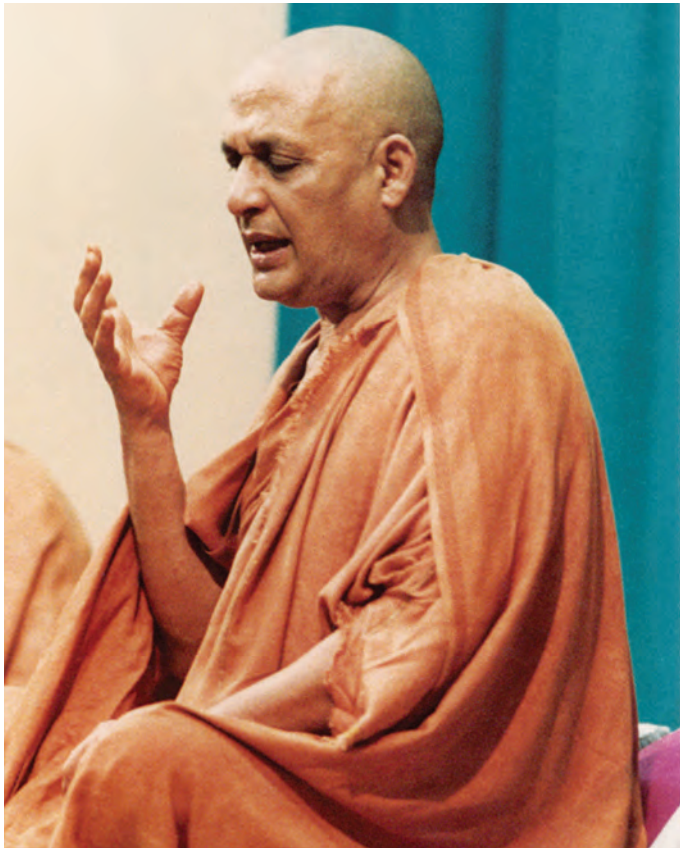

बारूद तो शिष्य के अन्दर में है और गुरु डेटोनेटर का काम करता है। शिष्य की गुरु के प्रति जो भक्ति या श्रेष्ठ भावना रहती है, वही भावना वास्तव में अन्दर क्रिया करती है। मतलब गुरु के प्रति भक्ति के अनुपात में तुम्हारे अन्दर वह तत्त्व जाग्रत होता है। इसलिये हमेशा बोलते हैं कि अन्दर का गुरु और बाहर का गुरु एक ही है, ये अलग-अलग नहीं हैं।

यह बिल्कुल सरल चीज है, अभी भक्ति और आत्मा की बात छोड़ दो। संसार में काम, क्रोध, लोभ, मोह और मात्सर्य जैसी साधारण वासनायें भी किसी का सहारा लेकर ही जागती हैं। दूसरे का हलुआ देखकर लोभ की वासना जागती है, दूसरे की सम्पत्ति को देखकर मात्सर्य की वासना जागती है। काम, क्रोध, लोभ इत्यादि हलुआ में भी नहीं है, स्त्री-पुरुष या बदमाश में भी नहीं है, वह चीज तुम्हारे अन्दर छिपी हुई है, मगर बाहर का उपादान प्राप्त करके उसे अन्दर जगाते हो।

उसी प्रकार एक सूक्ष्म तत्त्व, आत्मा सबके अन्दर है। उस आन्तरिक शक्ति को जगाने के लिये भी एक उपादान खोजना पड़ता है। ऐसी बात नहीं है कि गुरु ही एकमात्र उपादान है, लोगों ने बहुत उपादान खोजे हैं। साकार ईश्वर का उपादान खोजा, जैसे राम, कृष्ण, ईसा मसीह आदि। मगर बहुत-से लोग कहते हैं कि 'जब तक प्रतीति ही नहीं होगी तो प्रीति कैसे होगी। यह ठीक है कि हनुमान जी ने श्री राम को देखा या गोपियों ने श्री कृष्ण को देखा, लेकिन हमने तो केवल सुना भर है, सुनने से भक्ति उत्पन्न हो जाये तो बहुत अच्छा।'

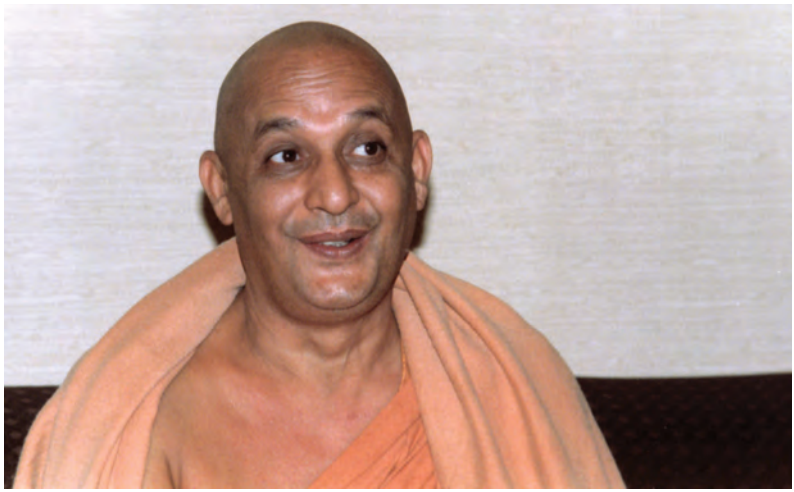

दुनिया में ऐसे बहुत-से बुद्धिजीवी लोग हैं जिनमें सुनने से भी भक्ति उत्पन्न नहीं होती, न राम के प्रति, न कृष्ण के प्रति। जब साकार ईश्वर के प्रति भक्ति-भाव उत्पन्न न हो और निराकार ईश्वर समझ में न आवे तो दोनों के बीच एक मार्ग आता है, एक व्यक्ति आता है जिसके प्रति तुम्हारी व्यक्तिगत भक्ति है। इसलिये आध्यात्मिक मार्ग में ईश्वर और गुरु, ये दो वाचक बहुत महान् अर्थ रखते हैं।

यह भी समझ लो कि गुरु चेला का चुनाव नहीं करता है। शिष्य जो सीखना चाहता है या जो अनुभव करना चाहता है उसके लिए वह अपने गुरु का चुनाव करता है। याद रखना, गुरु चेला नहीं बनाते, चेला ही गुरु बनाता है। यहाँ उल्टी धारा कभी नहीं बहती। ऐसा होना भी चाहिये। जब शिष्य गुरु की खोज करता है तब वह अपने अनुरूप गुरु पाता है और जब गुरु शिष्य की खोज करेगा तो वह अपने अनुरूप शिष्य पायेगा, लेकिन यह बड़ा गड़बड़ है। जब गुरु चेले की खोज करता है तब गुरु गुड़ रह जाता है और चेला चीनी बन जाता है। ऐसा बहुत जगह देखा गया है। इसलिये सुरक्षा इसी में है कि शिष्य अपनी रुचि के अनुकूल गुरु खोजे और उसके साथ पटरी बैठाये। सब शिष्यों की सब गुरुओं के साथ पटरी बैठती भी नहीं है। अब कितने ही साधक चमत्कारी लोगों के पास जाते हैं और चुपचाप लौट आते हैं। जानते ही नहीं हैं कुछ। कुछ लोग किसी महात्मा को देखते हैं, भले ही उसको न शास्त्र का कुछ ज्ञान हो, न सिद्धि हो, बिल्कुल बं बं महादेव हो, लेकिन वहीं उनका मन लग जाता है। बहुत-से शिष्य विद्यावान् गुरु के पास जाते हैं जैसे श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी शिवानन्द हुए, लेकिन वहाँ से भी लौट आते हैं।

शिष्य जब अपने पूर्वजन्म के अभ्यास, साधना और संस्कार के आधार पर दूसरा जन्म ग्रहण करता है, उस समय अनुभव और साधना की तीव्र अभिलाषा जाग्रत होती है। तब वह चारों तरफ देखता है, खोजता है और अनेकों लोगों के पास जाता है। उनमें से कोई एक व्यक्ति उसके अनुकूल मिल जाता है। गुरु महान् हैं या मूर्ख हैं, शास्त्रज्ञ हैं या निरक्षर भट्टाचार्य हैं – यह मायने नहीं रखता। यहाँ गुरु के लिये एक ही परिभाषा है कि हमारे मन के अनुकूल गुरुजी हमें मिल गये। जब तुम्हारे मन के मुताबिक कोई गुरु तुम्हें मिलेंगे तब वही तुम्हारे डेटोनेटर बनेंगे, क्योंकि श्रद्धा एक ऐसी चीज है जिसमें लेशमात्र भी तर्क नहीं होता। जैसे माता-पिता के साथ तर्क नहीं करते, उनपर तो सहज श्रद्धा और विश्वास है, वैसे ही श्रद्धा गुरु और शिष्य के बीच की कड़ी है।

– 19 जुलाई 1980, शिक्षक प्रशिक्षण सत्र, मुंगेर

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

गुरु-शिष्य सम्बन्ध के बारे में अनेक महात्माओं ने अलग-अलग बातें कही हैं और उनका निचोड़ यही है कि गुरु-शिष्य का सम्बन्ध आत्मा के साथ रहता है। गुरु पथ पर प्रकाश-प्रदर्शक है और शिष्य है उस प्रकाश का अनुभव एवं अनुसरण करने वाला। जैसे माता-पिता या भाई-बहन या पति-पत्नी या मालिक-नौकर का सम्बन्ध होता है, वैसे ही गुरु-शिष्य का सम्बन्ध भी होता है।

दुनिया में जितने भी पारिवारिक या सामाजिक संबंध हैं, सभी का मुख्य प्रयोजन है – मनुष्य की भावनाओं की पुष्टि। मानवीय भावनाओं की पुष्टि और सन्तुष्टि के लिए ही ये सम्बन्ध बनाये जाते हैं, लेकिन गुरु और शिष्य के बीच सम्बन्धों का प्रयोजन होता है – प्रकाश की प्राप्ति। प्रकाश का मतलब होता है अपने अन्दर चेतना का उज्ज्वल हो जाना। कभी-कभी आपको लगता है कि सब कुछ समझ में आ रहा है, वह प्रकाश है, और जब वह प्रकाश नहीं रहता तब मनुष्य के मन के भीतर बहुत-से द्वन्द्व और संघर्ष विद्यमान रहते हैं।

गुरु शब्द में 'गु' का मतलब होता है अंधकार और 'रु' का मतलब होता है हटाने वाला। इस प्रकार गुरु का मतलब हुआ अंधकार को हटाने वाला, उसका नाश करने वाला। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध लौकिक प्रयोजन पर नहीं, आध्यात्मिक प्रयोजन पर आधारित रहता है, आध्यात्मिक प्रकाश से सम्बन्धित होता है। यह बात तो सामान्यतः सब गुरुओं ने बतलायी है, इसमें कोई दो मत नहीं हैं।

कुछ गुरु ऐसे होते हैं जो शिष्य के साथ एक अभिन्नता कायम करते हैं। गुरु और शिष्य दो शरीर और एक आत्मा हो जाते हैं। गुरु शिष्य को अध्यात्म में आगे बढ़ाने के लिए रास्ता बतलाते हैं। गुरु एक आध्यत्मिक शक्ति हैं और शिष्य उस आध्यात्मिक शक्ति को धीरे-धीरे कार्यान्वित करता है, जैसे रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द का सम्बन्ध था।

इस प्रकार हमारे यहाँ कई तरह के गुरु और शिष्य होते हैं। एक बात और याद रखनी चाहिये कि वैदिक धर्म में गुरु सर्वव्यापक शब्द है। नामकरण करने के लिए जो पुरोहित जी आते हैं, वह भी गुरुजी हैं, जो आपके यहाँ श्राद्ध-कर्म कराते हैं वह भी गुरुजी होते हैं, जो स्कूल में पढ़ाते हैं वह भी गुरुजी होते हैं, जिनसे जनेऊ मिलता है वह भी गुरुजी होते हैं, जिनसे मंत्र मिलता हैं वह भी गुरुजी हैं, जिनसे संन्यास मिलता है वह भी गुरुजी हैं, जो कुण्डलिनी जगा देते हैं वह भी गुरुजी होते हैं। अनेक प्रयोजनों को लेकर अनेक प्रकार के गुरुओं से वास्ता पड़ता है, लेकिन जहाँ तक हम समझते हैं गुरु-शिष्य का सम्बन्ध मूलतः आध्यात्मिक सम्बन्ध है।

– 17 अगस्त 1980, मुंगेर

गुरु-दीक्षा का आधार

मनुष्य के अन्दर भक्ति एवं भावना, ये दो चीजें विद्यमान हैं। यह उसकी अपनी स्वाभाविक प्रकृति है। कोई भी व्यक्ति भक्ति और भावना से रहित नहीं है और उस भावना को पूरा करना आवश्यक है। इस भावना को पूरा करने के लिए माता-पिता, पति-पत्नी, बच्चे, भाई-बहन हैं। इनके माध्यम से तुम अपनी भावना को प्रकट करते हो, अभिव्यक्त करते हो। यदि ये लोग न रहें तो तुम्हारी भावना अधूरी रहेगी। अधूरी रहने से भावना कुंठित हो जाती है और तब इसका हमारे व्यक्तित्व पर असर पड़ता है।

भावना का अभिव्यक्तिकरण बहुत आवश्यक है, चाहे वह वात्सल्य-भाव हो, यानि माता-पिता का बच्चे के प्रति भाव, चाहे सख्य-भाव हो, मतलब दोस्ती का भाव जो दो मित्रों के बीच होता है, चाहे वह माधुर्य-भाव हो जो प्रेमी का प्रेमिका के प्रति या प्रेमिका का प्रेमी के प्रति होता है, चाहे वह दास्य-भाव हो। तुम हमसे बड़े हो, हम तुम से छोटे हैं, हम तुम्हारी सेवा करते हैं, यह सेवक भाव ही दास्य-भाव है। इस प्रकार हर व्यक्ति को अपने अन्दर की भावनाओं को अनेक रूपों में व्यक्त करना पड़ता है।

जिस व्यक्ति के जीवन में ऐसी कोई घटना हो जाती है कि उसे अपनी भावना को प्रकट करने का अवसर नहीं मिलता तो थोड़ा-सा सनकी या पागल भी हो जाता है। जैसे ही उसे अपनी भावना को व्यक्त करने के लिए कोई व्यक्ति या वस्तु मिल जाती है उसे एकदम अच्छा लगता है। किसी अच्छे आदमी से तुम बात करो तो मन लगता है और शाम को तुम प्रसन्न होकर घर वापस आते हो। क्यों? इसलिए कि तुमने वहाँ अपनी भावना का अभिव्यक्तिकरण किया है।

जिस प्रकार भावना संसार के प्रति होती है, उसी प्रकार भावना के आगे एक और चीज होती है जिसे कहते हैं भक्ति। जब मनुष्य का हृदय संसार की वस्तुओं के प्रति अपने को व्यक्त करता है तो उसको कहते हैं भावना और जब मनुष्य का हृदय अपने को संसार की तरफ नहीं, बल्कि संसार के अलावा किसी दूसरी चीज की तरफ व्यक्त करता है, तो उसको कहते हैं भक्ति। भावना और भक्ति, दोनों में एक ही मूलतत्त्व है, लेकिन जब उसकी धारा संसार की तरफ चलती है तो उसको कहते हैं भावना, और जब धारा असंसार की तरफ, आलोक की तरफ, आत्मा की तरफ चलती है, तो उसको कहते हैं भक्ति।

भक्ति के दो आश्रय माने गए हैं, एक आश्रय है गुरु और दूसरा है भगवान। अनेक लोग भगवान की भक्ति करते हैं, क्योंकि उनके अन्दर श्रद्धा है, किन्तु कुछ लोग भगवान की भक्ति करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, क्योंकि उन्हें मालूम ही नहीं है कि जिसको देखा नहीं है उससे प्रेम कैसे किया जाए, जिसको जाना नहीं उसको दिल कैसे दिया जाए, जिसके स्वरूप का ही पता नहीं उसे किस विधि से प्रेम किया जाए? यह चीज बहुतों की समझ में नहीं आती है। इसलिए भक्ति के लिए गुरु का आश्रय लेना पड़ता है।

लोग भगवान के प्रति, गुरु के प्रति अपने हृदय को समर्पित करते हैं। जब वे गुरु के प्रति अपनी भावना को समर्पित करते हैं तो उसे कहते हैं गुरु-भक्ति और जब ईश्वर के प्रति समर्पित करते हैं तो उसे कहते हैं ईश्वर-भक्ति। भक्ति की ये भावनाएँ सख्य-भाव, वात्सल्य-भाव, दास्य-भाव और माधुर्य-भाव का आधार लेकर संसार में व्यक्त होती हैं। यही चारों भाव अपने गुरु के प्रति और भगवान के प्रति व्यक्त होते हैं। भगवान मेरे माता-पिता, सखा, प्रेमी और मालिक हैं। गुरु मेरे सखा, माता-पिता और सब कुछ हैं, ऐसा भाव होने को भक्ति कहते हैं जिससे गुरु-शिष्य के बीच एक सम्बन्ध स्थापित होता है, एक कड़ी बनती है और उस कड़ी को हम लोग कहते हैं – दीक्षा।

दीक्षा का मतलब हुआ गुरु और शिष्य के बीच एक प्रकार की प्रतिबद्धता। प्रतिबद्धता गुरु की भी होती है और शिष्य की भी। तुम और हम सामने बैठकर वायदा कर लेते हैं कि हम तुम्हारे हैं और तुम हमारे हो। जब आत्मीयता की यह प्रतिबद्धता शिष्य और गुरु के बीच होती है तो उस प्रतिबद्धता की भावना को गुरु-दीक्षा कहते हैं।

गुरु-दीक्षा का आधार मंत्र होता है। गुरु शिष्य को मंत्र प्रदान करता है और शिष्य गुरु को अपनी भावनाएँ प्रदान करता है। यह आदान-प्रदान बड़ा विचित्र है। गुरु शिष्य को एक अलौकिक वस्तु देता है जिसको मंत्र कहते हैं और शिष्य गुरु को एक लौकिक वस्तुत देता है जिसको भावना कहते हैं। जब शिष्य की भावना सम्पूर्णतः गुरु के पास पहुँच जाती है या दे दी जाती है और गुरु का दिया हुआ मंत्र शिष्य के हृदय में उतर जाता है, शिष्य उस मंत्र को हृदयंगम कर लेता है, उस समय दोनों के बीच एक सम्बन्ध की उत्पत्ति होती है, जो गुरु-दीक्षा का सम्बन्ध है।

अब सवाल यह उठता है कि हरेक आदमी को गुरु-दीक्षा लेनी चाहिए कि नहीं? इसके बारे में हमारा उत्तर अंतिम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि दुनिया में सभी लोग विकास की लम्बी प्रक्रिया में एक जगह पर नहीं खड़े हैं। प्रत्येक व्यक्ति का विकास हो रहा है। विकास के एक बिंदु पर पहुँचने के बाद गुरु की आवश्यकता महसूस होती है। जैसे-जैसे हमारे मन और चेतना का विकास होते जाता है वैसे-वैसे हमारे विचार बदलते हैं। आज हम गुरु से दीक्षा लेना चाहते हैं, क्योंकि दीक्षा लेने से कल्याण होता है। कल हमारा फिर विकास होता है, हम गुरु में मार्गदर्शक का रूप देखते हैं। फिर हमारा विकास होत है, हम गुरु में भगवान का रूप देखते हैं। हमारा आगे विकास होता है तो गुरु में हम अपना रूप देखते हैं। जैसे एक सूफी सन्त कहते थे कि 'मैं और मेरा गुरु एक ही हैं। मेरे को कभी-कभी यह भ्रम हो जाता है कि गुरु मैं हूँ, चेला वह है या चेला मैं हूँ, गुरु वह है!' इस प्रकार की अवस्थाएँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि तुम कितनी ऊँचाई पर पहुँच चुके हो।

जब आत्म-विश्लेषण करने के बाद तुम्हें यह लगे कि मुझे कहीं पर जाना है और किसी के पास अपना हृदय, अपनी भावना, अपनी चेतना, अपनी आत्मा को समर्पित करना है, पूर्णरूपेण समर्पित करना है, तब तुम गुरु-दीक्षा ले सकते हो। किन्तु एक बात और है, तंत्र शास्त्र और भक्ति शास्त्र के अनुसार गुरु-दीक्षा की परिभाषा थोड़ी अलग-अलग है। तंत्र शास्त्र में तुम जिस गुरु

से दीक्षा लेते हो उससे तुम्हें साधना मिलती है। वह तुम्हें साधना बतलाता है, तुम उस साधना के मुताबिक चलते हो। यही तुम्हारा मार्ग-दर्शक है, बस इतना ही। वह क्रिया जानता है, भेद जानता है, वह तुम्हें बतलाता है, ऐसा करो, वैसा करो, और तुम उसके कहे अनुसार साधना करते हो। तुम्हें बुद्धि प्राप्त होती है, समाधि प्राप्ति होती है, ज्ञान प्राप्त होता है, सिद्धि प्राप्त होती है, और भी बहुत-सी चीजें प्राप्त होती हैं। यहाँ पर गुरु और तुम्हारे बीच केवल सिखलाने वाले और सीखने वाले का सम्बन्ध है। यह भी एक प्रकार की दीक्षा होती है।

दूसरे प्रकार की दीक्षा भक्ति मार्ग की दीक्षा है। वहाँ पर गुरु और शिष्य, ध्येय और ध्याता एक-दूसरे के निकट आते जाते हैं और उन दोनों की आत्माओं में जो द्वैत है वह धीरे-धीरे समाप्त होता है। जिसको जो भी उचित और सुगम लगे, उसी के मुताबिक दीक्षा लेनी चाहिए।

गुरु-दक्षिणा

गुरु-दक्षिणा अकेले नहीं चलती है। जैसे पुरुष का स्त्री के बिना कोई महत्त्व नहीं है और स्त्री का पुरुष के बिना कोई महत्त्व नहीं है, उसी प्रकार दक्षिणा का महत्त्व दीक्षा के साथ है। दक्षिणा और दीक्षा, दोनों एक साथ चलने वाले शब्द हैं। दीक्षा का मतलब होता है ज्ञान देना, और दक्षिणा का मतलब होता है – जो ज्ञान दिया उस अनुग्रह को आत्म-स्वीकार करना।

जब शिष्य गुरु द्वारा दिये गए ज्ञान को आत्म-स्वीकार करता है, उसको कहते हैं दक्षिणा और जब गुरु शिष्य को ज्ञान का मार्ग बतलाता है तो उसको कहते हैं दीक्षा। अनादि काल से आज तक हमारे देश में यही परम्परा चलती आई है। आप ने राजा दिलीप की कहानी पढ़ी होगी, यह रघुवंश परम्परा है और यह बहुत पुरानी है। दक्षिणा या दीक्षा अकेले नहीं चल सकती। चेला दक्षिणा देता रहे और गुरुजी कुछ न दें, ऐसा नहीं हो सकता। तब तो दक्षिणा गुरु की कमाई हो जाती है। गुरुजी केवल दीक्षा ही देते रहें और चेला दक्षिणा न दे, तो भी कुछ नहीं होता। एक-दूसरे के बिना दोनों-के-दानों अपंग हैं। दोनों का येाग होने से ठीक रहता है।

इसके पीछे एक और कारण है। भारत के वैदिक धर्म में प्राचीन काल से एक परम्परा चली आयी है, और जिस परम्परा के कारण हमारे यहाँ विद्या अक्षुण्ण रही है। सदियों की गुलामी, परावलंबी जीवन, राजनैतिक और सामाजिक जीवन के पतन के बावजूद भी हम लोगों का सांस्कृतिक स्वरूप आज जीवित है। उसका मुख्य श्रेय जाता है एक ऐसे वर्ग को जो समाज से अलग रहकर जीवित रहा, जिसको कहते हैं गुरु परम्परा। हिंदुस्तान के लोगों ने बोला, 'गुरुजी! आप अकेले बैठिये, हमारी राजनीति में आप मत फँसिये, हमारे सिनेमा-घरों और होटलों में आप मत आइये, हमारी अन्त्येष्टि और विवाह में मत आइये, श्राद्ध में भी मत आइये, आपको हमारे घर में भी आने की जरूरत नहीं है। हम आपको इतना दे देते हैं, अपने चेलों के साथ बाँट लीजिये।' तब गुरु क्या करते थे? जब उनके शिष्य उन्हें दक्षिणा देते थे तो गुरुजी उससे आश्रम चलाते थे। उस आश्रम में 10-20 या 100-200 या 1000-2000 शिष्यों को रखते थे। उनमें दो-चार प्रतिभाशाली निकलते थे फिर वे आगे इस परम्परा को बढ़ाते थे।

– 16 अगस्त 1980, मुंगेर

शिष्य का कर्तव्य

गीता में कर्तव्य करने के लिए कहा गया है, एक शिष्य का गुरु के प्रति क्या कर्तव्य है?

कर्तव्य शब्द की समूची व्याख्या नहीं की जा सकती है, इसकी परिकल्पना समय-समय पर बदलती रहती है। बौद्ध काल में कहा जाता था कि तुम्हारा कर्तव्य ध्यान करना है और इसके लिए कर्म का परित्याग करो। सभी इससे सहमत भी थे। परन्तु यदि आज आप लोगों से कहें कि 'ध्यान ही आपका

कर्तव्य है और कर्म का परित्याग करो' तो लोग इससे सहमत नहीं होंगे, क्योंकि अब कर्तव्य की परिकल्पना आमूल बदल चुकी है।

आज हमारी समूची आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था बदल चुकी है। यदि आज आप पाश्चात्य देशों में कहें जो महात्मा बुद्ध ने 2500 वर्ष पहले कहा था तो लोग अस्वीकृति में सिर हिलायेंगे। यदि आप वहाँ भगवद्गीता का इस प्रकार प्रतिपादन करें जैसे भारत में सिखाया जाता है तो सम्भवतः लोग आपसे सहमत नहीं होंगे। वहाँ के बच्चे आपसे कहेंगे की आपका कर्तव्य काम करना, शादी करना, बच्चे पैदा करना, उन्हें पालना तथा शिक्षा देना, व्यापार-व्यवसाय करना, कार्यालय में काम करना या सेना में भर्ती होकर युद्ध भूमि में जाना है। इन कर्तव्यों का निर्माण ईश्वर ने नहीं बल्कि मनुष्य ने ही किया है। भारत के लोग इस तरह नहीं सोच सकते, क्योंकि हमारी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ उन लोगों से एकदम भिन्न हैं।

आज हम कठिन समय से गुजर रहें हैं। हमें अपने ऋषि-मुनियों द्वारा लिखित शास्त्रों के आधार पर जीवन के मूल्यों को निश्चित करना है अथवा एक सर्वथा नई व्यवस्था का निर्माण करना है? आने वाली शताब्दी में सम्भवतः यह कार्य पूरा हो अथवा न भी पूरा हो सके। इसलिए मनुष्य का मुख्य कर्तव्य अथवा धर्म यह है कि जीवन में विकास की प्रक्रिया का अनुसरण करे। हमने जो यह जीवन तथा भौतिक शरीर पाया है, तथा इस जीवन में हमारे समक्ष जो भी अवसर आते हैं, हमें उनका पूरा सदुपयोग करना चाहिये ताकि हम अपने भीतर विद्यमान शक्ति के महान् स्रोत को खोजें और पुनः प्राप्त कर सकें। इसके लिये हमें मात्र बुद्धि अथवा सम्बन्धों पर निर्भर नहीं होना चाहिये।

शक्ति के इस महान् स्रोत की खोज राजयोग तथा कुण्डलिनी योग की साधना द्वारा सम्भव है। एक गृहस्थ शिष्य का अपने गुरु के प्रति यह कर्तव्य है कि वह उस संकल्प को पूरा करे जो उसने अपनी साधना के सन्दर्भ में उनके समक्ष लिया था। गुरु जब दीक्षा प्रदान करता है तो शिष्य साधना के विषय में एक संकल्प लेता है, जिसे किसी भी कीमत पर पूरा किया जाना चाहिये। दूसरी ओर एक संन्यासी शिष्य का कर्तव्य यह है कि वह स्वयं को गुरु के कार्य का निमित्त बनाये।

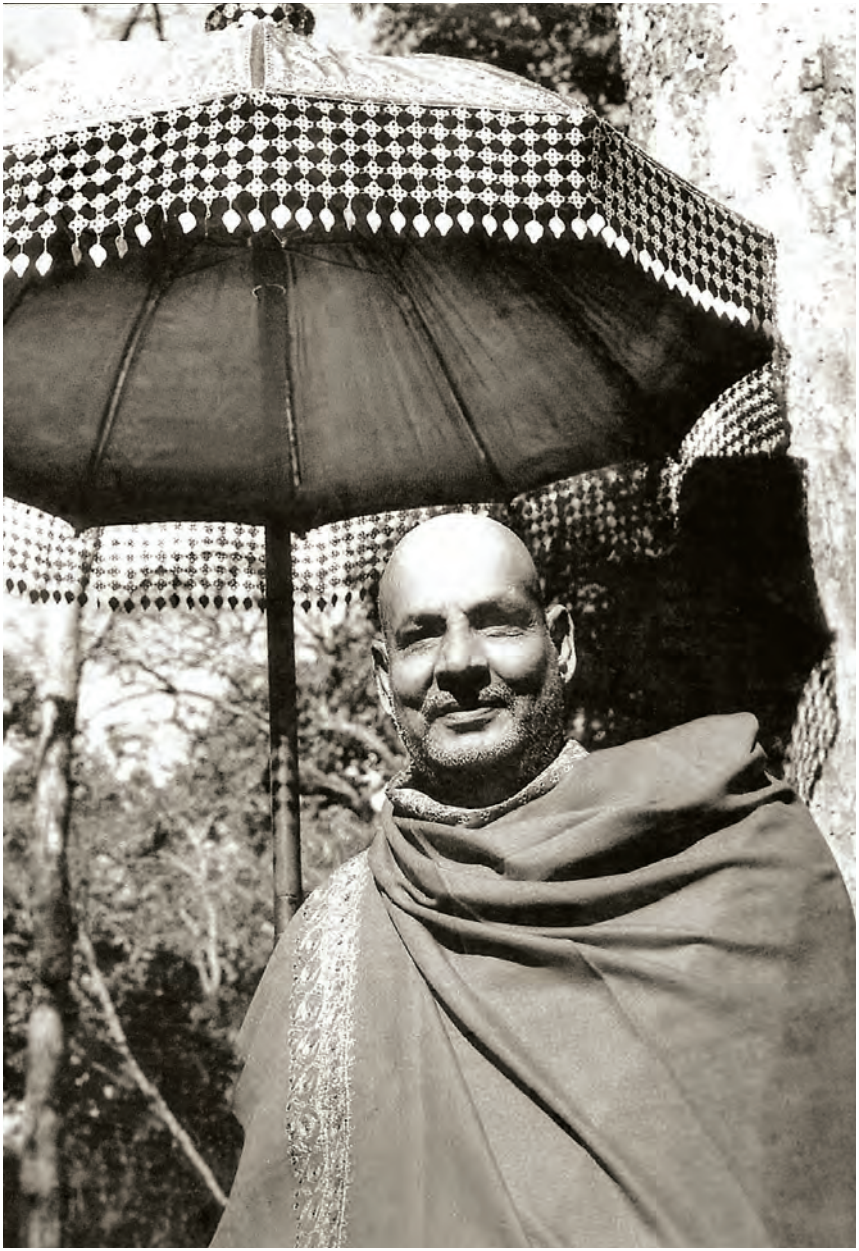

गुरु लिंगरहित होता है

क्या किसी स्त्री को गुरु बनाया जा सकता है?

किसी स्त्री को गुरु बनाना या नहीं बनाना, उससे तो हमको कोई मतलब नहीं है। अरे! एवरेडी बैटरी है, चाहे जिस दुकान से खरीद लो! तुमको तो प्रकाश से मतलब है, देख लेना बैटरी ठीक है कि नहीं। यदि तुम्हें सेठजी की दुकान में बैटरी ठीक नहीं मिलती तो मत जाना, सीधी-सी बात।

कोई कान फूँकाने के लिये गुरु थोड़े ही बनाता है, गुरु तो ज्योति है। गुरु शब्द 'गु' और 'रु' दो अक्षरों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ होता है प्रकाश प्रदान करने वाला। यदि इस प्रकार का गुरु मिल जाये तो वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, चाहे बालक या बालिका ही क्यों न हो, यहाँ तक कि यदि कुत्ते से भी तुमको ज्ञान मिले तो कुत्ते को भी गुरु बना सकते हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। कहने का मतलब यह है कि गुरु तो लिंगरहित होता है, यहाँ लिंग भेद नहीं होता है।

हर व्यक्ति के अन्दर सद्गुरु होता है। गुरु बाहर नहीं होता, वह सदा-सर्वदा सभी जीवों में, सभी प्राणियों में, सभी मनुष्यों में, सभी साधकों में अन्दर होता है। वह गुरु ज्ञान-स्वरूप है, विवेक-स्वरूप है और ज्योति-स्वरूप है, तो भी हम बाहर में गुरु ढूँढते-फिरते हैं और रोज हम लोग कहते हैं कि ढूँढो। यह हुई पहली बात। दूसरी बात यह कि जो अन्दर का गुरु है उसकी भाषा हमको समझ में नहीं आती है। वह क्या बोलता है, हम नहीं समझ पाते क्योंकि उसके और हमारे बीच एक अवरोध है।

मनुष्य का मन, मनुष्य की बुद्धि एक हद तक सोच सकती है, उसके ऊपर नहीं और उसके नीचे भी नहीं। मनुष्य के कान भी एक निश्चित फ्रीक्वेंसी तक ही ध्वनि को ग्रहण कर सकते हैं, न उसके ऊपर की और न ही उसके नीचे की। जैसे कानों की सीमा है, आँखों की सीमा है, सभी इन्द्रियों की सीमाएँ हैं, वैसे ही मनुष्य के मन, बुद्धि और स्मृति की भी सीमा है। उस सीमा को तुम तोड़ दो तो तुम्हें हमारी जरूरत नहीं है। उस अवरोध को तुम तोड़ दो, फिर अन्दर वह कुछ बोलता है तो सुनते जाओ, समझाता है तो मानते जाओ। वह यदि अंग्रेजी में बोलता है तो तुमको समझ में आता है, संस्कृत, उड़िया, लैटिन या ग्रीक में बोलता है तो भी समझ में आता है। कभी भी बोलता है तो तुम्हें सुनाई देता है।

अगर ऐसा है तो तुम्हें बाहर के गुरु की आवश्यकता नहीं है। मगर दुनिया का सिद्धान्त अलग होता है। अन्दर के गुरु का विस्फोट करने के लिये बाहर के गुरु की आवश्यकता पड़ती है और जब तुम अपने लिये गुरु खोजते हो तो सिर्फ कान फूँकाने के लिये गुरु मत खोजो। जिस गुरु को तुम बाहर खोज रहे हो वह अन्दर के गुरु की प्राप्ति का साधन है, वह साध्य नहीं है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

यह अन्दर के गुरु की ओर संकेत है। हम लोग कभी-कभी समझ नहीं पाते हैं और बाहर के गुरु से बहुत अधिक अपेक्षा रखते हैं। बाहर के गुरु को साधन के रूप में न मानकर, उसको साध्य के रूप में मानने लगते हैं।

कभी-कभी तो मुझे डर लगता है क्योंकि चेला लोग हिस्टिरिक हो जाते हैं, उन्मादी हो जाते हैं। अरे! गुरु एक चीज है, पति दूसरी चीज है, भाई अलग चीज है, माँ भी अलग चीज है। जब तक तुम्हें गुरु से प्रेम करने का तरीका मालूम नहीं है, तो अच्छा रहेगा है कि गुरु से प्रेम न करो या गुरु बनाना ही नहीं, जहाँ बैठे हो वहीं रहना।

हमारे गुरु स्वामी शिवानन्द जी थे, वे साक्षात् पवित्रता के अवतार थे। वे बहुत शांत रहते थे। वृन्दावन की एक महिला रोज स्वामीजी के कमरे के चारों ओर चक्कर लगाती थी, कभी-कभी फूल डाल देती थी। स्वामीजी तो कभी कुछ बोलते नहीं थे, वे तो 'न हम न तुम दफ्तर गुम' हिसाब वाले थे,

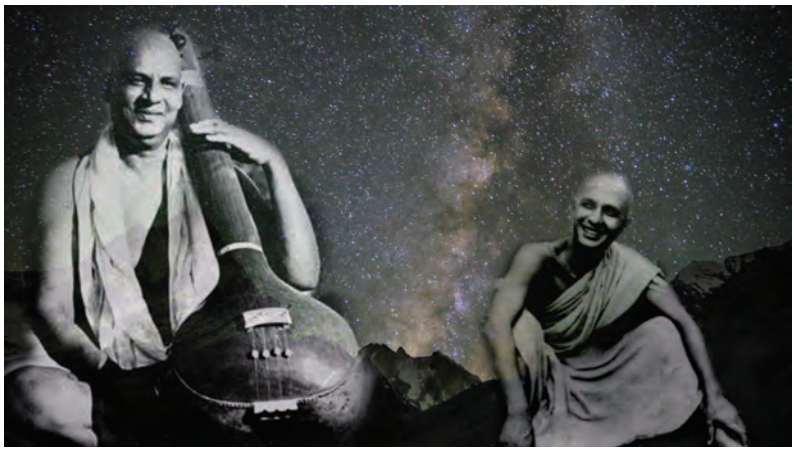

उनको तो यह सब समझ में नहीं आता था, लेकिन हम चेला लोग चढ़ गये, उसको हटाने की कोशिश करने लगे, क्योंकि हमको तो समझ में आता है। ऐसी बहुत-सी चीजें होती हैं जिनको गुरु बनाते वक्त ध्यान में रखना चाहिए।

गुरु तुम्हारे जीवन का वह निर्मल तत्त्व है जो तुम स्वयं हो, और जब तुम निर्मल गुरु की खोज करते हो तब तुम अपने अन्दर गुरु को देखते हो। जब तुम अपने राग को, अपने द्वेष को, अपनी वासना को और अपने अन्दर की गंदगी को अपने गुरुजी पर डालते हो तो तुम अपने अन्दर ही डाल रहे हो। ऐसे में वह गुरु कभी भी तुम्हारा मार्गदर्शक नहीं बन सकता।

गुरु केवल तुम्हें प्रेम देने के लिये नहीं है। प्रेम तो तुम अपने बाप से भी पा सकते हो, प्रेयसी से भी पा सकते हो। प्रेम तो वेश्या के यहाँ भी मिलता है, बाजार में भी मिलता है। नहीं समझ में आये तो आठ आने का टिकिट लेकर सिनेमा जाकर देख लेना कि प्रेम कैसा होता है? मगर गुरु का प्रेम कुछ अलग ही तरह का होता है। वह आँखों से नहीं होता है, कटाक्ष से नहीं होता है, वह तो दिल की बात है। अपने अन्तर्मन में बाहरी, भौतिक शरीर वाले गुरु का ध्यान करने से जैसे-जैसे उसका रूप उभरता जाता है वैसे-वैसे अपने अन्दर के गुरु का रूप भी उभरता जाता है। इस बात को याद रखना और कृपा करके अपना हिस्टिरिया अपने गुरु पर नहीं डालना।

जो आध्यात्मिक मार्ग में जाने वाले तीर्थयात्री हैं, जिन्हें मुमुक्षु कहते हैं, उनको परेशानी तो होती ही है। उनकी समझ में नहीं आता और वे कहते हैं कि ये गुरुजी तो ऐसे हैं, वे गुरुजी तो वैसे हैं। सब गुरुओं का हालचाल एक बराबर है। मगर ऐसा नहीं होना चाहिए। गुरु-शिष्य सम्बंध की अपनी मर्यादा होनी चाहिए। कृष्ण के साथ तुम्हारा माधुर्य भाव चल सकता है, पर गुरु के साथ माधुर्य भाव या वात्सल्य भाव नहीं चल सकता। तो फिर गुरु के साथ कौन-सा भाव रखना चाहिए? भक्ति भाव।

प्रेम और भक्ति में अधिक अन्तर तो नहीं है, पर आज के युग में अन्तर करना पड़ेगा नहीं तो लोग प्रेम का मतलब गलत लगाते हैं। चूँकि आज प्रेम के अर्थ को अनर्थ समझ लिया गया है, लोग इसे अंग्रेजी के 'लव' शब्द जैसा समझते हैं, इसलिये मैंने प्रेम शब्द ही हटा दिया है, हालाँकि यह हटाने लायक शब्द नहीं है। गुरु के प्रति भक्ति होना चाहिये और यह भक्ति निःस्वार्थ होनी चाहिये। भक्ति केवल साधना के रूप में होनी चाहिये और यह भी जानना चाहिये कि गुरु हमारा साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो हमारे अन्दर में पहले से मौजूद है।

दीक्षा-पुत्र

भारत के प्राचीन गौरव को पुनःस्थापित करने के लिए आपके दीक्षा-पुत्र के रूप में मेरा क्या कर्तव्य है?

पहली बात तो यह है कि भारत की प्राचीन महिमा और उसके गौरव को मैं स्थापित करूँ, इसका मुझे कोई आदेश नहीं है। यह काम आध्यात्मिक रूप से बहुत समर्थ लोगों का होता है। यद्यपि लोग मुझ से मंत्र दीक्षा लेते हैं और गुरु भी मानते हैं, लेकिन मेरा स्थान एक शिष्य का है। मुझे गुरु समझना लोगों की अपनी धारणा हो सकती है, और उसके लिए मैं अपने को खुला भी रखता हूँ, लेकिन शिष्यत्व मेरे व्यक्तित्व से कभी अलग नहीं हो सकता।

शिष्य होने के नाते मेरे सामने एक काम है और वह काम है गुरु द्वारा बहुत पहले दिये गये आदेश का पालन करना। उन्होंने मुझे केवल एक बात बतलायी है – तुम घूमते रहो और लोगों को योगविद्या सिखाओ, धर्म-निरपेक्ष योगविद्या, दर्शन-निरपेक्ष योगविद्या और विज्ञान-सापेक्ष योगविद्या। इसी का मैं पालन करता हूँ, किन्तु योग सिखाने के सिलसिले में दुनिया के कोने-कोने में घूमते हुए मुझे ऐसा अनुभव होता है कि हम भारत के सोये हुए और खोये हुए गौरव को दूसरे की दृष्टि में रख रहे हैं।

जो माल अपने यहाँ नहीं बिकता वही माल आज पदार्थवादी, भौतिकवादी, भोगवादी, अनीश्वरवादी, स्वच्छंदवादी दुनिया में इडली-ढोसा की तरह बिक रहा है। उसको पाने के लिए लोग लालायित होकर भारत आते हैं, बनारस की गलियों में सोते हैं, दूसरे दर्जे के कम्पार्टमेंट में कष्टदायी सफर करते हैं। दूर देशों से आये इन अजनबियों का कभी पासपोर्ट चोरी हो जाता है, किसी की घड़ी चली जाती है, किसी विदेशी लड़की को हिन्दुस्तानी लड़के लोग निर्लज्ज होकर अश्लील बातें भी बोल देते हैं, फिर भी वे लोग यहाँ आकर वर्षों जीवन व्यतीत करते हैं।

इन आध्यात्मिक पिपासुओं को इस प्रकार यत्र-तत्र मंडराते देखकर कोई कुछ कहता है, तो कोई कुछ और। कोई उनको वासनात्मक प्रतीक समझता है तो कोई समझता है कि ये भौतिकवादी जीवन से थके-मारे लोग हैं। पर जब उन लोगों के भारतीय प्रवास के जीवन को निकट से देखा जाता है तो मालूम पड़ता है कि कितने दुःख और कष्ट सहन करके वे लोग आत्म-विरासत

को पाने के लिए, अपने शौक एवं भोग-विलास को छोड़ करके यहाँ आते हैं। जबकि वहाँ का एक साधारण-सा मजदूर भी यहाँ के सम्पन्न व्यक्ति से अधिक सुखी है, माने भौतिक रूप से सुखी जीवन व्यतीत करता है, अच्छी तरह सुख-सुविधा, भोग-विलास की सामाग्री प्राप्त करने की क्षमता रखता है।

मुझे ऐसा लगता है कि भारत की महिमा, जो हम लोगों की मूर्खता, जड़ता, आलस्य और लापरवाही की वजह से खो गई थी, जिसे हम भूल गये थे, उसको वे लोग देवता की तरह स्वीकार कर रहे हैं। तब मुझे ऐसा लगता है कि शायद मैं इस महान् कार्य का निमित्त बन जाऊँ, अपना सारा जीवन उन्हीं के हेतु उत्सर्ग करता रहूँ। आध्यात्मिक पिपासुओं के लिए मेरे अन्दर एक अजीब-सा प्रेम का भाव लहराता है और ऐसी अवस्था में दुनिया के कई देशों से लोग मेरे पास आते हैं, संन्यास और मंत्र दीक्षा के लिए।

मेरे संन्यास देने का तरीका भी कुछ अजीब है। आप लोग भी इस बात को विवेकपूर्वक देख लीजिये। मुझे संन्यास देने का तरीका मालूम नहीं है। वैसे मैंने शास्त्र पढ़े हैं, संस्कृत बहुत अच्छा जानता हूँ, वेद-वेदान्त कंठस्थ हैं और प्रवचन भी दे सकता हूँ। संन्यास देने का जो शास्त्र-सम्मत तरीका है, उसे जानते हुए भी मैं कभी वैसे संन्यास नहीं देता हूँ।

कोई मेरे से संन्यास लेने के लिए आता है तो कागज पर उसका नाम लिख कर दे देता हूँ, स्वामी फलानानन्द सरस्वती। दो धोतियाँ दे देता हूँ और नाई

को बुलवाकर चुटिया कटवा देता हूँ, बस इतनी मेरी संन्यास दीक्षा है। उन लोगों को बोलता हूँ, सब मंत्रों को छोड़ो, केवल 'ॐ ॐ' जपो, रात के 12 बजे तक जपो। जब तक तुम लोगों को निश्चित झटका नहीं लगे, जपते रहो। पागल हो जाओ तो कोई बात नहीं। संन्यास की मेरी केवल इतनी ही परम्परा है। उपदेश देना मेरे को आता नहीं है। न मैं यह बोलता हूँ कि झूठ नहीं बोलना, व्यभिचार नहीं करना, शराब नहीं पीना, माँस नहीं खाना। वह सब मेरे को जमता ही नहीं, बोलने से थोड़े ही यह सब चीजें होती हैं। इतना होने पर भी सैकड़ो-हजारों की संख्या में लोग मुझ से संन्यास ले चुके हैं और गेरूवा वस्त्र धारण कर चुके हैं। वे लोग ऐसे हैं जिनके लिए गेरू वस्त्र और चमड़ा पर्याय बन गये हैं। 'चमड़ा उधड़े तो गेरू उतरे' ऐसे तो मेरे दीक्षा-पुत्र हैं।

अगर तुमको ऐसा दीक्षा-पुत्र बनना है तब तो तुम सोचो, क्योंकि जब तक कुर्बानी नहीं होती तब तक कोई प्यारा नहीं हो सकता। सब गुरु कहते हैं कि पहले सिर कटवाओ, तब तुम गुरु के प्यारे बनोगे। केवल गौरव के लिए, सम्मान के लिए, अपने अहं को मजबूत बनाने के लिए दीक्षा-पुत्र बनने से फायदा नहीं।

राजनाँदगाँव में एक बालक ने जन्म लिया, 4 साल की उम्र में वह मुंगेर आया। मेरे आश्रम में छोटे बच्चों को तब प्रवेश नहीं मिलता था, क्योंकि

आश्रम छोटा था और बच्चे बहुत हल्ला करते हैं। हमने उसे धर्मशाला में टिका दिया उसकी माँ के साथ। वापस गया, फिर शायद 6 साल की उम्र में आया, ठीक से मुझे याद नहीं है। उसके बाद उसने वापस नहीं जाने का संकल्प कर लिया। 6 साल का बच्चा, जिसने अभी-अभी दूध पीना छोड़ा है, जिसने अभी-अभी खिलौने के साथ खेलना शुरू किया है, उसने घर जाने से इन्कार कर दिया! उसको जबरदस्ती घर ले जाया गया तो उसने घर में अनशन कर दिया, अपना कुर्त्ता, कोट, बूशर्ट फाड़ दिया।

मामा ने मनाया, मौसी ने मनाया, मगर वे लोग हार गये। वह मुंगेर आया, कृष्ण की तरह खेलता था, किन्तु उसके अचेतन में शक्ति का उद्भव हो रहा था और वह शक्ति उसे निरंतर अन्दर से प्रशिक्षित करते जा रही थी। उसके भाषाओं के ज्ञान के तन्तु खुलते जा रहे थे, उसके बुद्धि विकास के तन्तु उन्नत होते जा रहे थे। दस साल की उम्र में उसे उत्तरी आयरलैण्ड भेजा और उसके बाद उसे बेलफोस्ट में रखा जहाँ वह तीन साल रहा।

वहाँ उसने प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक लोगों को योग सिखाना शुरू किया। इतनी खतरनाक परिस्थिति में उसने योग सिखाना शुरू किया कि तुम अन्दाज नहीं लगा सकते। हमलोगों के यहाँ जो हिन्दू-मुसलमान लोगों के झगड़े होते हैं वे उसके सामने कुछ नहीं हैं। यहाँ तो हम लोग कम-से-कम एक साथ बैठते हैं, बातचीत करते हैं, लेकिन वहाँ जब वह कैथोलिक लोगों को सिखाने जाता था तो प्रोटेस्टेन्ट बोलते थे कि वहाँ मत जाओ, नहीं तो तुमको मार देंगे। जब प्रोटेस्टेन्ट स्कूलों में सिखाने जाता था तो कैथोलिक बोलते थे कि तुम वहाँ क्यों जाते हो, मत जाओ नहीं तो तुमको मार देंगे। उसको दोनों तरफ से मारने की धमकी मिलती थी। कभी वे आश्रम का काँच तोड़ देते थे, कभी दरवाजे पर कुछ लिख देते थे। ऐसी स्थिति में वह वहाँ रहा और उसके बाद यूरोप गया। उसके बाद हमने उसे दक्षिण अमेरिका भेज दिया जहाँ कोई अंग्रेजी या हिन्दी जानता नहीं। उसने वहाँ स्पेनिश भाषा सीखकर वहाँ की संस्कृति के अध्ययन का काम किया। फिर ऑस्ट्रेलिया गया और बाद में वह अमेरिका चला गया।

उसके जान-पहचान के लाखों लोग हैं और सब उससे अत्यन्त प्रभावित हैं। आज जो वैज्ञानिक लोग मंगल और शनि ग्रह तक बड़े-बड़े रॉकेट भेज रहे हैं उनमें से दो वैज्ञानिक उसके व्यक्तिगत दोस्त हैं, क्योंकि उन्होंने उसके मस्तिष्क पर, उसकी भावनाओं पर अनुसंधान किया है। उसका अमेरिका में पूरा-का-पूरा अनुसंधान हुआ और उन्होंने रिपोर्ट भेजी है। वे कहते हैं कि इस

लड़के में भावना नाम की कोई चीज नहीं है, लगता है कि कोई लकड़ी या लोहा होगा! उसके मस्तिष्क का विश्लेषण करके उन्होंने उसके क्रिया-कलाप देखे हैं, मस्तिष्क तरंगों को देखा है। वे कहते हैं कि यह व्यक्ति हमारे शरीर प्रक्रिया विज्ञान के नियमों के अन्तर्गत नहीं आता।

ऐसे हमारे बहुत-से दीक्षा-पुत्र हैं। अगर तुमको दीक्षा-पुत्र बनना हो तो गेरू धोती ले आना, एक माला ले आना, एक नाई साथ में बुला लाना और अपने घर के लोगों को सलाम करके आ जाना। कह देना कि एक मौत होती है शरीर की और एक मौत होती है शरीर में। एक मृत्यु में शरीर नष्ट होता है और दूसरी मृत्यु में अज्ञान नष्ट होता है। संन्यास वह मृत्यु है जिसमें शरीर नष्ट नहीं होता, बल्कि अज्ञान और अविद्या नष्ट होती है। अविद्या के नष्ट होने को दूसरा जन्म कहते हैं, जबकि शरीर के नष्ट होकर दुबारा पैदा होने को पुनर्जन्म कहते हैं। अविद्या के नष्ट होने के बाद जब उसी शरीर में हम दूसरे व्यक्ति का विकास करते हैं तो उसे हम संन्यास कहते हैं। दीक्षा-पुत्रों की मुझे कोई खास जरूरत नहीं है, मगर तुमको अगर मेरी जरूरत है तब तो आ जाओ।

– 4 अक्टूबर 1981, रायपुर

शिष्य को निर्देश

मन से थोड़ा हटकर, अनुभव की एक ऐसी अवस्था होती है, जिसमें आप मनपसन्द वस्तु अथवा व्यक्ति को देख सकते हैं। इसके बाद अपनी चेतना के आन्तरिक तल पर आप उसे यथार्थ रूप में परिवर्तित कर सकते हैं। परन्तु आप ऐसा केवल तभी कर सकते हैं, जब आपकी चेतना विकसित हो जाए। इस अवस्था में कल्पना की वस्तुएँ बड़ी स्पष्ट होती हैं। आप आँखें बन्द कर अपने गुरु को इतने स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, उनसे बातचीत कर सकते हैं, मानो वे आपके समक्ष ही बैठे हों। इसलिए प्रतिदिन नियमित रूप से एक-आध घण्टा साधना कर अपनी चेतना को अवश्य विकसित कीजिए।

चेतना की दो अवस्थाएँ होती हैं, एक अवस्था में आप यह जानते हैं कि मैं क्या कर रहा हूँ, दूसरी अवस्था में आपको इस तरह की कोई जानकारी नहीं रहती। इसमें क्षणिक असन्तुलन आता है, परन्तु यदि आपको गुरु का मार्गदर्शन उपलब्ध हो, तो यह स्थिति जल्दी ही समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत यदि आपको गुरु का मार्गदर्शन उपलब्ध नहीं है तथा असन्तुलन की स्थिति अधिक समय तक बनी रहती है तो संभव है कि आप पागल हो जायें। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि कोई भी साधना, यहाँ तक कि कुंजल या नेति भी, गुरु के आदेश के बिना न करें। गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण साधक के लिए प्राथमिक अनिवार्यता है। इसके बाद ही उचित अवसर आने पर गुरु उसे साधना बताएँगे। ये बातें मैंने आपको पहले इसलिए नहीं बतायीं कि इसके पूर्व साधक में कुछ परिपक्वता आ जानी चाहिए।

यदि गुरु से आपका सम्बन्ध सहज है, तो इसका स्वरूप कुछ भी हो सकता है। तब तो वे आपके गुरु ही नहीं रह जाते, बल्कि माता, पिता, प्रेमी, सखा, यहाँ तक कि आपके बच्चे के समान भी हो सकते हैं। हो सकता है कि गुरु पुरुष हों और आप महिला, परन्तु गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बड़ा स्पष्ट होता है। गुरु शिष्य के प्रति जो कुछ भी करते हैं, उसका उद्देश्य शिष्य की चेतना को प्रभावित करना होता है। इसके अतिरिक्त गुरु का शिष्य बनाने का कोई अन्य प्रयोजन नहीं रहता, परन्तु अनेक शिष्य इस सत्य को नहीं समझ पाते। इसके परिणामस्वरूप उनमें असन्तुलन आ जाता है। कभी तो वे सोचने लगते हैं कि गुरुदेव मुझे बहुत चाहते हैं और कभी यह भी सोचने लगते हैं कि गुरुदेव

मेरे प्रति बड़ी उपेक्षा बरतते हैं। परन्तु ये दोनों ही विचार गलत हैं। गुरु कभी किसी को प्यार नहीं करते। वे जो कुछ करते हैं, उसका उद्देश्य शिष्य के मन को उन्नत बनाना होता है।

आप देखते हैं कि दूध में शक्कर मिलाने से उसका गुण बदल जाता है। यदि उबलते पानी में चाय-पत्ती डाल दी जाये तो पानी का गुण बदल जाता है। ठीक इसी प्रकार यदि गुरु आपके मन में समा जायें तो मन के गुणों और ढाँचे में बड़ा परिवर्तन आ जाएगा। यह प्रक्रिया बड़ी सरल है। गुरु इस परिवर्तन को लाने की हजारों युक्तियाँ जानते हैं। वे आपको मंत्र, साधना, प्रवचन, कीर्तन, चिन्तन अथवा अन्य किसी भी तरीके से बदल सकते हैं। साधना केवल तभी प्रारम्भ होती है जब आपके मन में गुरु बसने लगते हैं। गुरु न तो किसी से व्यक्तिगत रूप से जुड़े रहते हैं और न ही किसी शिष्य से प्यार या नफरत करते हैं।

साधक शिष्य के जीवन में एक पल ऐसा आना चाहिए जब वह अपनी चेतना को विकसित करने में सक्षम हो। इसके बाद उसे भौतिक रूप से गुरु की आवश्यकता नहीं रह जायेगी। तब तो गुरु हमेशा उसके पास ही रहेंगे। यह अवस्था गुरु के भौतिक सान्निध्य की अपेक्षा कहीं बेहतर होती है। यदि आप अपने एकांत के क्षणों में आँखें बन्द कर गुरु के स्वरूप का अन्तर्दर्शन कर सकें, तो गुरु की भौतिक निकटता की अपेक्षा कहीं अधिक संतुष्टि का अनुभव कर सकेंगे।

सर्वप्रथम यह जानिये तथा मानिये कि मैं आपका गुरु हूँ और जीवन में पग-पग पर आपका नियंत्रणकर्ता भी हूँ। यही गुरु का वास्तविक अर्थ भी होता है। हो सकता है कभी-कभी मैं आपसे नाराज हो जाऊँ और धक्के मारकर आश्रम से बाहर निकाल दूँ। आपको सभी बातें स्वीकारनी होंगी। सच्चा शिष्य वही होता है, जो हर समय गुरु के नियंत्रण में रहता है।

ऐसे अनेक लोग मिलेंगे जो आध्यात्मिक साधना में बड़ा श्रम करते हैं। उन्हें कुछ अच्छे अनुभव भी होते हैं, परन्तु कुछ समय बाद वे जैसे के तैसे हो जाते हैं, क्योंकि उनके गुरु नहीं होते, वे मनमानी करते हैं और बहुधा निरर्थक बातों में अपना समय बरबाद करते हैं। यदि मैं आपसे न सोने के लिए कहूँ, शांत रहने अथवा बहस न करने का आदेश दूँ, तो बिना किसी झिझक अथवा उचित-अनुचित का विचार किये आपको उसका पालन करना चाहिए। गुरु के समक्ष शिष्य का अपना कोई व्यक्तित्व न रहे, तभी वे उसकी कुछ सहायता कर सकते हैं।

कठिन परिश्रम कीजिये और जो बातें मैंने आपसे कही हैं, उनका पालन कीजिये। अपनी अन्तश्चेतना को भी विकसित कीजिये और गुरु से हमेशा डोर जोड़े रखिये, भले ही बाह्य रूप से आप गुरु से कितनी ही दूर अथवा अलग क्यों न दिखलाई पड़ें। इसके लिए निरंतर अभ्यास करना होगा। प्रारम्भ में यह बड़ा अटपटा लगेगा, परन्तु जैसे-जैसे आपकी चेतना विकास के सोपान पार करेगी, आपको यह ठोस यथार्थ लगेगा।

इस चेतना का अनुभव आपको अत्यधिक भय, वासना आदि के क्षणों में होता है। इसका अभ्यास कीजिये, पर एक बात हमेशा याद रखिये कि मैं आपसे जो कुछ कहता हूँ, वह अंतिम है तथा उसमें तर्क की कोई गुंजाइश नहीं है। यदि समर्पण की इस मन:स्थिति को बनाने के पूर्व ही आप यह अभ्यास करेंगे तो उच्च चेतना की क्षणिक अभिव्यक्ति के अवसरों पर उसे संभालना आपके लिए बड़ा कठिन होगा। आप कहेंगे, 'मैं ऑस्ट्रेलिया जा रहा हूँ' और यदि मैं कहूँ, 'मत जाओ' तो आप उस पर ध्यान ही नहीं देंगे।

इसलिए गुरु के साथ आपका सम्बन्ध कुछ ऐसा हो कि वे जो कुछ कहें, आप उसे अंतिम मानें। इसमें किन्तु-परन्तु, क्यों-कैसे आदि न जोड़ें। मेरा 'नहीं' आपके लिए अंतिम 'नहीं' होना चाहिए। अन्यथा उच्च चेतना की अभिव्यक्ति के समय बड़े उपद्रव उठ खड़े होंगे और आप कहीं के नहीं रहेंगे। गुरु का आदेश शिष्य के लिए ईश्वरादेश होना चाहिए। जब तक गुरु के साथ

ऐसा सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, उच्च साधना का प्रयास नहीं करना चाहिए, नहीं तो साधक भटक सकता है।

सामान्य जीवन में मेरे और आपके अनुभव भिन्न हो सकते हैं, परन्तु गुरु और शिष्य के सम्बन्धों का स्वरूप आध्यात्मिक होता है। भले ही आप किसी भी पेशे में क्यों न हों, जहाँ भी जाइये, जो भी कीजिये, इस चेतना को हमेशा बनाये रखिये। हो सकता है, मेरे कहे अनुसार करने से आप कुछ छोटी-मोटी गलतियाँ कर बैठें। मान लो, आप रसोई में काम करते हैं। मैं आपसे गेहूँ बाहर निकालने के लिए कहता हूँ। संभव है, ऐसा करने से कुछ गेहूँ नष्ट हो जाए। यह तो भौतिक नुकसान होगा, परन्तु चूँकि आपने मेरी आज्ञा का पालन किया है, आपको इसका आध्यात्मिक लाभ अवश्य मिलेगा।

याद रखिये, गुरु कभी शिष्य का शोषण नहीं करते, भले ही शिष्य गुरु के प्रति कितना समर्पित क्यों न हो। अनेक पुस्तकों में यह लिखा मिलता है कि गुरु शिष्यों का शोषण करते हैं, परन्तु मेरा यह अनुभव है कि वे अपने नि:स्वार्थ शिष्यों का कभी शोषण नहीं करते। जो शिष्य स्वार्थी नहीं होते, वे कभी घाटे में नहीं रहते, भले ही गुरु उनसे कुछ भी माँग ले क्योंकि ऐसे शिष्यों की चेतना उच्च से उच्चतर विकास की ओर गतिशील रहती है।

– 22 अप्रैल 1981, मुंगेर

पुनर्दीक्षा का क्या तात्पर्य होता है?

पहले मंत्र की दीक्षा दी जाती है। दीक्षा 24 तरह की होती है और गुरु भी 24 तरह के होते हैं। एक दीक्षा है जिसमें कान फूँक दिया जाता है याने कान में मंत्र दे दिया, जैसे ॐ नमः शिवाय या गायत्री मंत्र या श्री राम का मंत्र या ॐ मंत्र। यह मंत्र तुम्हारे कान में पड़ गया बीज की तरह, लेकिन वास्तव में यह कान में नहीं पड़ता, कान के द्वारा दिमाग में पड़ता है, चेतना में बीज की तरह पड़ता है। उसके बाद तुम अपनी साधना के द्वारा उस बीज को धीरे-धीरे विकसित करते हो और अपनी सम्पूर्ण चेतना को उससे प्रभावित करते हो।

जब उस मंत्र से तुम्हारी चेतना प्रभावित होने लगती है तो फिर उस मंत्र का विनियोग करते हैं और मंत्र का यह विनियोग चक्रों में होता है, मूलाधार में 3 दिन, स्वाधिष्ठान में 3 दिन, मणिपुर में 3 दिन, फिर वापस। अभी शुरू में ऐसा मत करना। जब वह मंत्र तुम्हारी चेतना को आत्मसात् कर लेता है, तुम्हारी श्वास में रम जाता है और अपने आप बैठे हुए, सोये हुए, बिना प्रयत्न के उस मंत्र की याद तुम्हें आने लगती है, मंत्र को लाने के लिए पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, उस समय उस मंत्र का विनियोग करना पड़ता है।

वह विनियोग चक्रों में करते हैं और उसके बाद चक्र जागने लगते हैं। तब साधक को कई अनुभव होते हैं, जैसे किसी को लगता है कि ट्यूब लाइट पीछे रख दिया, किसी को लगता है बदन पर चींटी चल रही है, किसी को गरम-ठंडा लगने लगता है, किसी को मूलाधार में गरम लगता है जैसे कि वहाँ पर अंगार रख दिया हो। प्रेम और माधुर्य की भाषा में लिखा गया है – *सुनी रे मैंने हरि आवन की आवाज, दादुर मोर पपीहा बोले कोयल मधुरै साज*। ये दादुर-मोर बाहर वाले जीव थोड़े ही हैं, ध्यान की अवस्था में दादर, मोर, पपीहा के बोलने का अनुभव होता है।

उस अनुभव का मतलब होता है कि चेतना का आविर्भाव हो रहा है। *महल चढ़ि-चढ़ि पंथ निहारूँ कब आवै महाराज* – पहला महल याने ग्राउण्ड फ्लोर मूलाधार है, दूसरा महल स्वाधिष्ठान है। चेतना के आर्विभाव हेतु हम लोग एक चक्र से दूसरे चक्र पर चढ़ते जाते हैं और जब चक्रों की जागृति होती है उसके बाद गुरु पुनः उस शिष्य के मस्तक पर हाथ रखते हैं या उसके भ्रूमध्य को छूते हैं या किसी प्रकार की आज्ञा प्रदान करते हैं, आशीर्वाद जिसको कहते हैं। यह क्रिया गुरु अपनी शक्ति के अनुसार करते हैं। प्रत्यक्ष में और परोक्ष में, दोनों तरह से कर सकते हैं। तब उस समय साधक की कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। कुण्डलिनी के जागरण से पहले चक्रों की जागृति और उनका शोधन आवश्यक है।

पुनर्दीक्षा का मतलब होता है कि साधक ने अपनी पहली दीक्षा के प्रयोजन को पूरा कर लिया है और अब वह दूसरी अवस्था में जाने के लिए तैयार है। अब तुम लोग थोड़ी देर के बाद आकर नहीं कहना कि स्वामीजी हमको पुनर्दीक्षा दे दीजिए! जब तुम्हें नींद के समय, ध्यान के समय, पूजा के समय, आध्यात्मिक चिन्तन के समय, अपने आस-पास किसी दूसरे की उपस्थिति का आभास हो और तुमको भय न लगे, तब तुम पुनर्दीक्षा के लिए परीक्षा पास कर गये हो। इस परीक्षा में प्रायः सब लोग फेल हो जाते हैं। यह एक गहरी परीक्षा है, अभी तुम मेरी बात सुन रहे हो, लेकिन फिर भी तुमको डर लगेगा, क्योंकि तुम्हारे लिए अभी यह केवल बुद्धि की बात है।

हमारे जान-पहचान की एक महिला थी, हम उसे बहुत सालों से जानते थे। हम उसको यही बात समझाते थे। एक दिन उसने मुझे फोन किया– 'स्वामीजी! मेरे को डर लगता है।' मैंने कहा, 'क्यों तुमको डर लगता है?' तो कहती है, 'मैं जप-पूजा करती हूँ तो लगता है पीछे कोई है। मैं जब गीता पढ़ती हूँ तब

भी लगता है पीछे कोई है।' मैंने कहा, 'इतने दिन से मैं तुमको क्या समझा रहा था!' वह बोली 'मुझे पता है, मगर फिर भी डर लगता है।' मैंने कहा, 'तो फिर छोड़ दो, काम खत्म, *हरि: ॐ तत्सत्*।' अरे! जिस अनुभव के लिए तुमने इतनी साधना की और वही अनुभव आज तुम्हारे सामने व्यक्त रूप में आ रहा है तो तुम भयभीत हो रही हो, इसका मतलब यही कि तुम्हारा मस्तिष्क, तुम्हारी समझ उस अनुभूति को सम्भाल नहीं पा रही है। इससे अच्छा है कि यह साधना छोड़ दो, थोड़े दिन और गुरुजी की थाली-धोती साफ करो।

पुनर्दीक्षा का यही तात्पर्य होता है कि उस समय गुरु शिष्य को तैयार पाकर, उसको अंतिम आशीर्वाद देता है, उसके ऊपर हाथ लगाता है और जैसे ही गुरु और शिष्य के बीच शारीरिक सम्पर्क होता है वैसे ही शिष्य की कुण्डलिनी जागने लगती है। जैसे ही साधक की कुण्डलिनी जागने लगती है, वह सारी क्रियाओं का, सारे योगशास्त्रों का स्वामी बन जाता है। सारी मुद्राएँ उसको अपने-आप लगने लगती हैं, सारी अनुभूतियाँ उसको होने लगती हैं और वह अपने अन्दर जन्म-जन्मान्तर के तमाम सिद्धान्तों को समझने लगता है, उसे आस-पास की सभी चीजों का सही-सही ज्ञान होने लगता है, उसे सारे संसार में शक्ति का आभास होने लगता है।

– 4 अक्तूबर 1981, रायपुर

गुरु चेतना से सम्पर्क

जीवन की कठिन परिस्थितियों की जानकारी क्या गुरु को देनी पड़ती है या उन्हें स्वयं हो जाती है। ब्रह्ममुहूर्त्त में गुरु से अपना सम्बंध बनाने एवं उनके संदेशों को ग्रहण करने का तरीका क्या है, ध्यान या स्मरण या कुछ और?

प्रत्येक मनुष्य के अन्दर एक उच्च चेतना अप्रकट रूप में विद्यमान है और इस अप्रकट चेतना को गुरु के माध्यम से जाग्रत करना बहुत सरल रहता है। वैसे वह चेतना अपने आप भी जाग जाती है, कई महापुरुष हुए हैं जिन्होंने बिना गुरु के माध्यम से भी अपनी चेतना को जगाया है, किन्तु वह रास्ता कठिन है। अंधकार में बिना पगडंडी के चलने से कहीं भी पहुँच सकते हो। इसलिए गुरु का जो मार्ग है, गुरु को जो आश्रय और आधार है, उसे बहुत सफल आधार मानते हैं। चाहे अपने जीवन की मुसीबतों को गुरु के पास प्रकट रूप से कहो या प्रार्थना के भाव से कहो या भावना रूप में कहो, कोई फर्क नहीं पड़ता, जहाँ उसको पहुँचना है वहाँ वह पहुँचेगी ही।

दूसरी बात, जो आवाज गुरु के पास पहुँच सकती है वह है मन की आवाज, जिसको आंतरिक याचना या पुकार कहते हैं। वह पुकार अपने अन्दर पहुँच सकती है और वह पुकार गुरु के पास भी पहुँच सकती है। इसका अब उल्टा बोलते हैं, जो पुकार अपने तक नहीं पहुँच सकती है, वह गुरु के पास भी नहीं पहुँच सकती। चाहे वे कान से भी सुन लेते तो भी नहीं पहुँच सकती और जो पुकार गुरु के पास नहीं पहुँच सकती वह अपने पास भी नहीं पहुँच सकती। बाहर का गुरु और अन्दर की चेतना, दोनों एक ही तत्त्व हैं। बाहर का गुरु माने शरीर धारण किया हुआ गुरु और हमारे अन्दर का गुरु, माने आत्मा का स्वरूप, ये दोनों एक हैं। जो वहाँ होता है सो यहाँ होता है, जो यहाँ होता है सो वहाँ होता है। जो वहाँ नहीं होता, वह यहाँ नहीं होता।

अब शरीर तो हमारा एक है, जो जन्मदिन से लेकर मरने के दिन तक एक नाम से पुकारा जाता है और एक परिचय के रूप में जाना जाता है, लेकिन तुम वह नहीं हो जो दो बरस के बच्चे के समय थे। न तो वह चेहरा है और न शरीर में वह तत्त्व है। जिस दिन तुम पैदा हुए थे उस दिन तुम्हारे शरीर में जो कोशिकायें, धमनियाँ और रक्त था वह आज नहीं है, मगर फिर भी परिचय

वही है। तुम वही हो जो सन् 1923 में पैदा हुए थे। इस शरीर के अन्दर एक चीज है जिसको कहते हैं, चैतन्य। इसको समझना मुश्किल है। तुम उसको आत्मा कहते हो और वह एक अवस्था में हर एक जीव में है।

कभी-कभी उस चैतन्य की अवस्था एकदम बदल जाती है। जैसे रेशम का कीड़ा, बाहरी केंचुली को फेंककर छोटे शंकु की तरह बनकर जाली के अन्दर चला जाता है और एक दिन देखते हो कि वह भी नहीं रहता है, एक गुठली बनकर के बाहर निकलती है, वैसे ही चेतना में भी रूपांतरण होता है। उसको हम लोग कहते हैं परिणाम, एकदम अपने अन्दर चीज बदल जाती है, लगता है हम आदमी ही दूसरे हैं।

तुलसीदासजी के जीवन की घटना है, जब वे अपने पत्नी के पास गए थे तो तुलसीदास के रूप में गए थे। जब पत्नी ने उनको समझाया तो सब कुछ

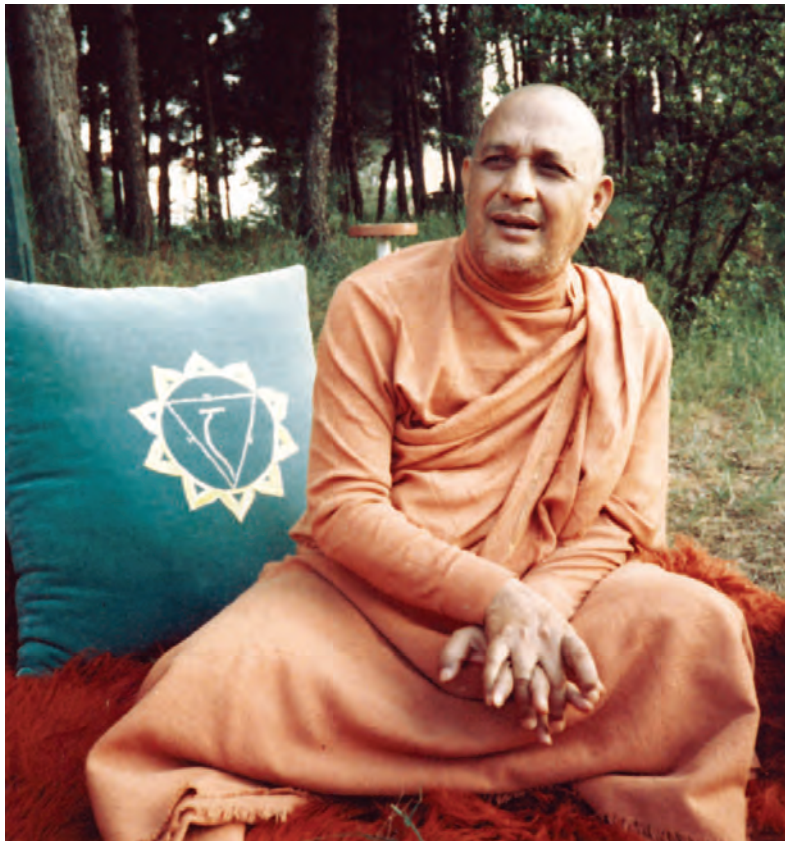

उल्टा हो गया। वह जो परिणाम, बदलाव और परिवर्तन हो गया, वह कैसे हुआ? वह बौद्धिक नहीं था, वह वास्तविक था। इसका मतलब है कि वह पुराना तुलसीदास मर गया और एक दूसरे तुलसीदास ने जन्म लिया, मगर मरने और जन्म के बीच एक कड़ी रह गई जो टूटी नहीं।

जब कड़ी टूट जाती है तो उसको पुनर्जन्म बोलते हैं और जब कड़ी एक ही शरीर में बनी रहती है तो तुम एक शरीर में तीन-चार बार भी जन्म ले सकते हो। आज आप बहुत अच्छे आदमी हैं, पर कल सबेरे देखा कि एकदम अपराध करने लगे, आप आदमी ही दूसरे हो गये। नाम वही है, धर्म वही है, खून वही है, सरकारी ठप्पा भी वही है, मगर आदमी दूसरा है। आज हम बहुत बदमाश हैं, रत्नाकर डाकू की तरह हैं, लेकिन कल सबेरे एकदम दूसरे हो गये, वाल्मीकि की तरह हो गये। लगता है कि वह पुराना इतिहास ही खत्म हो गया।

मनुष्य एक ही शरीर में कई बार जन्म लेता है। वह जन्म लेने वाली चीज चेतना है जिसको आत्मा भी कहते हैं। वह कभी शीर्षासन की तरह एकदम उलट जाती है, तो कभी धीरे-धीरे परिवर्तन लाती है। वह चेतना ही ईश्वर है। उसी चेतना को जागृत करने के लिए बाहरी गुरु को आश्रय बनाया जाता है और जब तुम बाहरी गुरु को ध्यान के द्वारा पुकारते हो या सामने बैठकर पुकारते हो या भावना से पुकारते हो तो वह पुकार कहाँ पहुँचती है, जरा ख्याल करो तो! वह आत्मा तक पहुँचती है और वह आत्मा सर्वत्र है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है।

आत्मा के तीन गुण होते हैं – सत्, चित् और आनन्द। आत्मा का दूसरा स्वरूप सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। वह तो अपने अन्दर विद्यमान है ही, मगर सवाल है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान आत्मा के कान तक कैसे पुकार पहुँचायी जाएगी? वह पहुँचती ही नहीं है। क्यों? इसलिए कि उसका स्वरूप तुमने नहीं देखा, किसी ने भी नहीं देखा। जब तक किसी आदमी के स्वरूप को नहीं देखोगे, उसकी जानकारी नहीं होगी तब तक किसका ध्यान करके पुकारोगे? इसलिए महात्माओं ने एक बाहरी आधार दिया, गुरु का। तब गुरु पर भक्ति आई और जब गुरु पर भक्ति आई तो उन्होंने मार्ग बतला दिया। जब मार्ग बतला दिया तो तुमने आत्मा को सम्बोधित करके नहीं, गुरु को सम्बोधित करके पुकार लगाई और पुकार पहुँच गई, आवाज वहाँ से आने लग गई, दुःख-दर्द सब दूर हो गया। यह बोलने में सीधा-सादा लगता है, पर करने में बहुत कठिन है!

सत्यम् संवाद

सच्चे गुरु की प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए और सच्चे गुरु की क्या पहचान है?

जो आदमी हीरा मोल लेने जाएगा वह जौहरी की दुकान में जाएगा, सब्जी की दुकान में तो जाएगा नहीं और जो सब्जी मोल लेने आएगा वह जौहरी की दुकान में नहीं जाएगा। आदमी अपने मन में गुरु की जिस प्रकार की विचारधारा या तस्वीर रखता है, वह वैसे ही व्यक्ति को देखकर अपना गुरु बनाता है। इसमें एक और बात ध्यान रखने की है कि मनुष्य की साधकीय योग्यता क्या है, और उसकी महत्त्वाकांक्षा क्या है। इच्छा तो तुम कुछ भी कर सकते हो, किन्तु तुम्हारी योग्यता क्या है?

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बहुत महत्त्वपूर्ण है और उस सम्बन्ध के बिना गुरु और शिष्य के बीच किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रह सकता। तीस-चालीस साल पहले लोग रमण महर्षि जैसे महात्माओं के पास जाते थे। वे एक ऐसे गुरु थे जिनका न तो कोई गुरु था, न ही कोई चेला ही था। उन्होंने कोई चमत्कार नहीं किया, कोई सिद्धि नहीं थी, किसी प्रकार की कोई भविष्यवाणी नहीं करते थे, किसी प्रकार की पद-प्रतिष्ठा नहीं बनायी। पहले ऐसे गुरुओं की खोज होती थी या फिर योगीराज अरविन्द जैसे गुरु की खोज होती थी जो लोगों से ज्यादा मिलते नहीं थे। बस, अपनी साधना में लीन रहते थे और लोगों के लिए ज्ञान का प्रकाश खोजते थे।

आज ऐसे गुरुओं की खोज होती है जो यह बतायें कि तुम्हारी नौकरी कब लग जाएगी या तुम्हारी लड़की की शादी कब होगी। जिस प्रकार की महत्त्वाकांक्षा और इच्छा आपकी है, उसी प्रकार का गुरु आपको मिलेगा। इसलिए अगर गुरु को खोजना है और सद्गुरु की प्राप्ति करनी है तो गुरु की विशेषता पर ज्यादा ध्यान मत दो, बल्कि अपनी योग्यता देखो। तुम्हें हीरा चाहिए तो जौहरी के यहाँ जाओ और यदि तुम्हें साग-भाजी चाहिए तो सब्जीवाले के पास जाओ। जौहरी के यहाँ जाओगे तो एक-एक चीज का दाम बीस हजार, तीस हजार बताएगा। हिम्मत होगी तुम्हारी लेने की? सब्जीवाले के यहाँ जाओगे तो दो रुपये किलो, तीन रुपये किलो वाला हिसाब होगा। जितना झोले में भर सको ले आओ।

शिष्य कैसे जान सकता है कि वह गुरु कृपा की प्राप्ति के योग्य हो गया है?

गुरु बिजली का पावर-हाउस है तथा शिष्य कन्डक्टर, यानि संवाहक है। यदि शिष्य अच्छा कन्डक्टर है तो वह गुरु की बातों को ग्रहण कर सकता है। गुरु की कृपा शिष्य को तब मिलती है जब गुरु के प्रति उसकी श्रद्धा अच्छी तरह जम जाती है। जब गुरु के प्रति शिष्य में पूर्ण समर्पण के भाव आ जाते हैं, उसमें कोई बाधा या अवरोध नहीं रह जाता तब वह गुरु के विचारों को ग्रहण करता है। गुरु जो कुछ कहता है उसे वह ठीक-ठीक समझता है। जो भाव गुरु के मन में उठते हैं वही भाव उसके मन में भी उठते हैं।

जब गुरु के सभी वचन अमृत तुल्य लगें तो समझिये गुरु कृपा की प्राप्ति के दिन समीप हैं। जब गुरु के कुछ शब्द अमृत लगें तथा कुछ ठीक न लगें तो समझिये कृपा पाने में कुछ देरी है, परन्तु जब गुरु के शब्द कटु ही लगें तो कृपा की आशा रखना बेकार है।

गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा का एक उदाहरण मिलारेप्पा नामक तिब्बत का लामा है। उसके गुरु ने उसे अनेकों कष्ट दिये। अन्त में खाई में भी ढकेल दिया, परन्तु गुरु के प्रति उसकी श्रद्धा कम न हुई और वह हाइड्रोजन से भरे हुए फुग्गे की तरह खाई के ऊपर आ गया। बाद में उसने कठिन साधनायें कीं। गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास के बल पर ही वह सिद्ध हो गया।

इस बात को समझो – गुरु धोबी शिष्य कपड़ा साबुन सर्जनहार। जब शिष्य में अहं का नाश हो जाता हे, जब वह मुरली की तरह खाली हो जाता है, तभी गुरु कृपा का पात्र बनता है।

गुरु कहीं होता है और शिष्य कहीं रहता है, तो वह शिष्य गुरु की कृपा को कैसे प्राप्त करेगा?

गुरु एवं शिष्य में केवल भौतिक दूरी होती है। उपासना के समय वे दो हैं, परन्तु वास्तव में वे एक हैं। आध्यात्मिक दूरी तो उनके बीच रहती ही नहीं। यदि शिष्य प्रबल है तब तो दूरी बिल्कुल भी नहीं होती। गुरु एवं शिष्य वास्तव में एक ही होते हैं। विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र की तरह मन एवं भावों का भी क्षेत्र होता है। यदि शिष्य ने अपने को ट्यून कर लिया है तो वह तुरंत गुरु आशीष को ग्रहण कर लेता है।

अगर आश्रम में रहकर ही गुरु की सेवा की जा सकती है, तो हम परिवार वाले कैसे उनकी सेवा करें?

आश्रम ही गुरुजी का परिवार नहीं है। वह तो उनके निवास का स्थान है। प्रत्येक शिष्य का परिवार ही गुरु का परिवार होता है। यह परिवार के विस्तार का सिद्धान्त ही प्राचीन काल में हम लोगों की परिकल्पना थी। आश्रम परिवार का एक मॉडल, एक आदर्श नमूना होता है। उसमें पति-पत्नी की प्रथा नहीं होती, परन्तु सब शिष्य मिलकर उस परिवार की उन्नति के लिए श्रम करते हैं। इसी भाँति प्रत्येक गृहस्थ शिष्य का चाहिए कि वह अपने परिवार को गुरुजी की धरोहर समझे। घर की साफ-सफाई का ध्यान रखे। हर प्रकार से उसकी उन्नति का प्रयास करे। परिवार में मतभेद को मिटा देना चाहिए, क्योंकि किसी में पूर्णता नहीं है। इस प्रकार घर की उन्नति का प्रयत्न करना चाहिए। यही गुरुदेव की सेवा है।

एक शिष्य गुरु द्वारा निर्देशित पथ का कैसे अनुसरण कर सकता है? जब गुरु योग की शिक्षा देता है उस समय शिष्य का मस्तिष्क पूर्णतः सहमत नहीं होता। यह भेद गुरु-शिष्य सम्बन्ध में बाधक है क्या?

शिष्य का प्रथम कर्तव्य अपनी आध्यात्मिक उन्नति करना है। आप शिष्य क्यों बनते हैं? जीवन के गूढ़ तत्त्वों की खोज करने के लिये। आप गुरु क्यों

बनाते हैं? सांसारिक धरातल से ऊपर उठकर अपनी उन्नति के लिये गुरु द्वारा बताये मार्ग का अनुसरण करने के लिये। और गुरु कौन होता है? जो आपके अन्तरतम को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करे।

गुरु और शिष्य का यही वास्तविक सम्बन्ध है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध कोई सामाजिक आवश्यकता नहीं है। यह सम्बन्ध पूर्णतः व्यक्तिगत है। जब आप अपनी आत्मिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं तो आपको सर्वप्रथम गुरु की आवश्यकता होती है, क्योंकि इस मार्ग में जाने पर आपको बहुत-सी साधना सम्बन्धी समस्याओं एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं के समाधान के लिये आप गुरु के समीप जाते हैं, उनकी सेवा करते हैं, एक प्रकार से आप गुरु के सम्मुख अपने अहम् का समर्पण करते हैं।

जब शिष्य गुरु द्वारा निर्देशित योग के मार्ग पर अग्रसर होता है तो कभी-कभी साधना पथ में उसका स्वयं का अहम् बाधक बन जाता है। ऐसे समय गुरु ही विभिन्न प्रयासों एवं साधनाओं द्वारा शिष्य के अहम् का निराकरण करते हैं। शिष्य को कभी यह नहीं सोचना चाहिये कि वह जो कुछ कर रहा है, सब अपने गुरु के निमित्त ही कर रहा है। यदि वह ऐसा सोचता है तो उसका अहम् भाव निरन्तर बढ़ता रहता है। वास्तव में शिष्य को सदैव सतर्क रहना चाहिये कि वह गुरु की सेवा अपने आत्मिक विकास के लिये कर रहा है।

दीक्षा के कितने रूप हैं? क्या गुरु से दीक्षा लेना जरूरी है? यदि हाँ तो क्यों? जब सीखना ही है तो दीक्षा के बिना भी तो सीखा जा सकता है? दीक्षा के द्वारा गुरु-शिष्य के बीच कौन-सा संबंध स्थापित होता है, कृपया वैज्ञानिक आधार पर समझाइये?

प्रश्न छोटा है, लेकिन इसका उत्तर बहुत बड़ा है। गुरु-दीक्षा आध्यात्मिक साधक के लिए बहुत आवश्यक है। जो साधना के मार्ग में बहुत आगे बढ़ चुके हैं, उनकी बात नहीं कह रहा हूँ। मैं उन साधारण व्यक्तियों की बात कह रहा हूँ, जिन्हें न तो साधना का रहस्य मालूम है और न ही साधना के स्वरूप का ज्ञान है। ऐसे व्यक्तियों की इच्छा जब आध्यात्मिक जीवन और योगमय जीवन में प्रवृत्त होने की होती है तो निश्चित रूप से उन्हें एक ऐसे मार्गदर्शक गुरु की आवश्यकता होती है जो यह बतलावे कि कौन-सी साधना उसके अनुकूल है और कौन-सी साधना प्रतिकूल। उसे किस प्रकार का अभ्यास करना चाहिए और किन अभ्यासों को नहीं करना चाहिए और इस प्रकार के

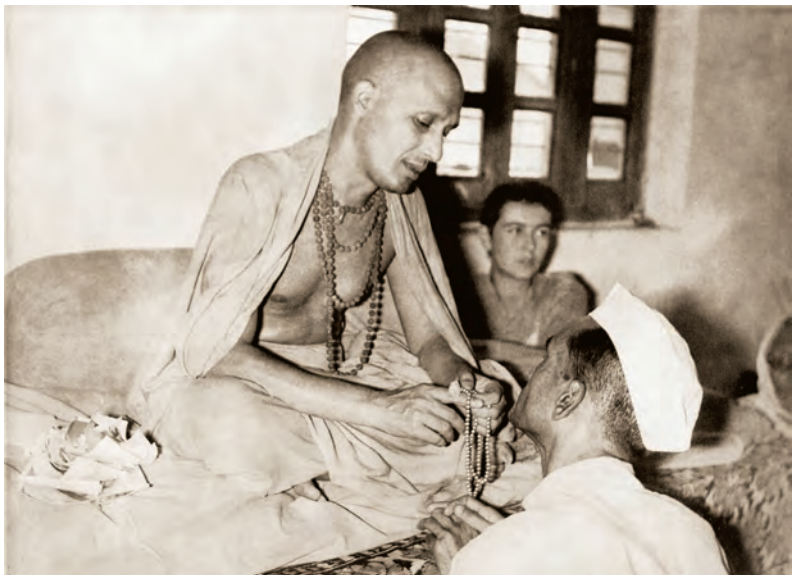

अभ्यासों की क्या सीमा है। विशेष करके हठयोग, राजयोग, कुंडलिनी योग और क्रियायोग के अभ्यास में गुरु का होना तो एक अनिवार्य आवश्यकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि धर्म में साधना की परम्परा रही, अथवा माता-पिता और परिवार के बीच यह परम्परा रही, तब तो गुरु की भी क्या जरूरत है। इतना मुझे मालूम है कि यदि मैं गृहस्थ होता और मेरे बच्चे होते तो मैं उन्हें सिखला देता, परन्तु आजकल तो माता-पिता को स्वयं यह मालूम नहीं कि बच्चों को क्या सिखलाना चाहिए। पूरक क्या है, रेचक क्या है, कुंभक क्या है, यह बतलाने के लिए उनके पास समय नहीं है। परिवार में ज्ञान की परंपरा जब नष्ट हो जाती है, योग की परंपरा नष्ट हो जाती है तब हमें जीवन में एक ऐसे गुरु की आवश्यकता होती है, जो हमें उस विद्या के रहस्य को बतलाये। केवल यही नहीं, बल्कि साधना के मार्ग में आगे जाकर जो अनुभव होते हैं, उन अनुभवों को समझने और समझाने की कोशिश करे। साधना मार्ग में समय-समय पर विशेष अनुभव आते हैं, बाधायें और परेशानियाँ होती हैं, उस समय उन बाधाओं के निराकरण के लिए हमें एक गुरु की आवश्यकता होती है।

सच्चे अर्थ में यदि पूछा जाये तो यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए, क्योंकि जब हमें संगीत और नृत्य, क्रिकेट और बैडमिंटन, फिज़िक्स और केमेस्ट्री जैसी कोई भी विद्या सीखने के लिए गुरु की आवश्यकता है, तो फिर परा

विद्या सीखने के लिए गुरु की आवश्यकता क्यों नहीं होगी? वह अध्यात्म विद्या जिसके द्वारा व्यक्ति को अपने मन का, अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान होता है, क्या उस विद्या को सीखने के लिए दीक्षा की आवश्यकता नहीं है, गुरु की आवश्यकता नहीं है?

मैं रमण महर्षि की बात नहीं करता, मैं उस साधक की बात कहता हूँ, जिसके दोनों पैर लंगड़े हैं, जो वासना से पराजित है, जो भोगों से जर्जर है, जिसमें वैराग्य की शक्ति नहीं है, जो कष्ट सहन नहीं कर सकता, जो निन्दा सहन नहीं कर सकता। इतने कमजोर साधक के लिए निश्चय ही गुरु की आवश्यकता है। तुम कहते हो, 'दीक्षा के बिना भी तो सीखा जा सकता है, फिर गुरु की क्या आवश्यकता है?' मैं पूछता हूँ, 'जब गुरु की आवश्यकता नहीं है तो फिर शादी की क्या जरूरत है? बिना पति के भी काम चल सकता है न?' मेरे प्रश्न का उत्तर दो। जब गुरु के बिना ज्ञान हासिल हो सकता है तो पति के बिना भी संसार का सुख प्राप्त हो सकता है। परन्तु नहीं, क्योंकि विद्या की मर्यादा होती है और भोग की भी मर्यादा होती है। उस मर्यादा को देखते हुए शास्त्रों में विवाहित जीवन का आदेश है। इसी मर्यादा और आवश्यकता को देखते हुए गुरु का भी आदेश है। अन्यथा क्या होता है? थोड़ी देर इससे सीखा, थोड़ी देर उससे सीखा, फिर चले गये पूना, कभी चले गये तिरुपति, कभी चले गये कहीं और। इसको कहते हैं व्यभिचार। व्यभिचारपरक कृत्यों से सच्चा ज्ञान, सच्चा सुख नहीं प्राप्त हो सकता।

गुरु एक होता है, पति एक होता है, धर्म एक होता है, माँ एक होती है। मगर लोग आजकल बड़े विचित्र प्रकार के मिलते हैं। कभी कुंडलिनी जगाने का प्रयास करते हैं, कभी मंत्र जपते हैं तो कभी क्रियायोग की साधना करते हैं। उनसे पूछो, 'क्यों भाई, ऐसा क्यों कर रहे हो?' तो कहते हैं, उसका सिखाया मंत्र काम नहीं करता है। अरे, मंत्र काम नहीं करेगा, कुंडलिनी योग काम नहीं करेगा, राजयोग और हठयोग भी काम नहीं करेगा। एक आदमी के लिए एक ही रास्ता है और गुरु उस मार्ग के मील के पत्थर का काम करता है, उसे दिखाता है कि 'यही तुम्हारा रास्ता है।'

जिस प्रकार सांसारिक और यौन जीवन को सुदृढ़ बनाने के लिए शास्त्रों में विवाहित जीवन का आदेश है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन को स्वस्थ और सुदृढ़ बनाने के लिए गुरु, दीक्षा और एक मंत्र का आदेश है। इसके परे इसकी वैज्ञानिकता है ही नहीं।

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट

क्रियात्मक योग

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

पृष्ठ 174, ISBN: 978-81-85787-59-6

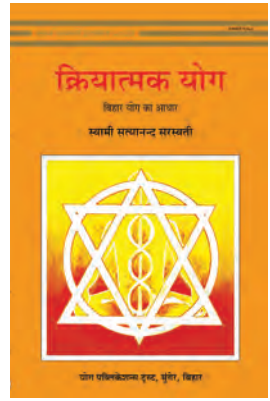

उपलब्ध

क्रियात्मक योग में योग की उन मूल धारणाओं और अभ्यासों पर प्रकाश डाला गया है, जो बिहार योग परम्परा की नींव हैं। बिहार योग से परिचय कराने के लिए ये आदर्श अभ्यास हैं। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की इन आरम्भिक शिक्षाओं का उद्देश्य पाठकों को योग की समग्र जानकारी प्रदान करना है। योग तथा ध्यान के मुख्य अभ्यासों को मनो-नियन्त्रण और सजगता के विकास पर बल देते हुए विशेष रूप से समझाया गया है। योग को एक कला और विज्ञान के रूप में प्रस्तुत करने वाली यह एक कालजयी कृति है।

पुस्तकों की मूल्य सूची एवं क्रयादेश प्रपत्र प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें –

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, गरुड विष्णु, पी.ओ. गंगा दर्शन, फोर्ट, मुंगेर, बिहार 811201

दूरभाष : 91–6344–222430, 9162783904

जवाब के लिए अपना पता लिखा, डाकटिकट लगा लिफाफा भेजें, अन्यथा आपके आवेदन पर विचार नहीं किया जाएगा

वेबसाइट और एप्प

www.biharyoga.net

बिहार योग पद्धति की मुख्य वेबसाइट पर बिहार योग, बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान संबंधी जानकारियाँ उपलब्ध हैं।

सत्यम् योग प्रसाद

बिहार योग परम्परा की समस्त प्रकाशित कृतियाँ *satyamyogaprasad.net* वेबसाइट पर तथा *Android* एवं *iOS* उपकरणों पर एप्प के रूप में प्रस्तुत हैं।

यौगिक जीवनशैली साधना

biharyoga.net तथा *satyamyogaprasad.net* पर स्वस्थ जीवन हेतु यौगिक जीवनशैली साधना उपलब्ध है।

योगा एवं योगविद्या ऑनलाइन

www.biharyoga.net/bihar-school-of-yoga/yoga-magazines/
www.biharyoga.net/bihar-school-of-yoga/yogavidya/

योगा एवं योगविद्या पत्रिकाएँ *Android* एवं *iOS* उपकरणों पर एप्प के रूप में भी उपलब्ध हैं।

अन्य एप्प (Android एवं iOS उपकरणों के लिए)

- योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की लोकप्रिय पुस्तक, ए.पी.एम.बी. अब सुविधाजनक एप्प के रूप में उपलब्ध है
- *Bihar Yoga* एप्प साधकों के लिए प्राचीन और नवीन यौगिक ज्ञान आधुनिक ढंग से पहुँचाता है
- *For Frontline Heroes* एप्प कोरोनावायरस के विरुद्ध अभियान में संघर्षरत कार्यकर्ताओं के लिए सरल योग अभ्यास प्रस्तुत करता है जो महामारी से उत्पन्न तनाव को सम्हालने में सहायक हैं

- Registered with the Department of Post, India
  Under No. MGR-01/2020-23
  Office of posting: Ganga Darshan TSO
  Date of posting: 1st-7th of every month
- Registered with the Registrar of Newspapers, India
  Under No. BIHHIN/2002/6306

issn 0972-5725

सभी ग्राहकों के लिए महत्त्वपूर्ण सूचना

आत्मस्वरूप

हरि: ॐ

हमें यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि जनवरी 2021 से मासिक योगा (अंग्रेज़ी) तथा योगविद्या (हिन्दी) पत्रिकाएँ सभी ग्राहकों, सहयोगियों, योगप्रेमियों, भक्तों तथा आध्यात्मिक साधकों के लिए निम्नांकित वेबसाइटों पर नि:शुल्क उपलब्ध हैं –

www.satyamyogaprasad.net

www.biharyoga.net

वर्तमान कोरोनावायरस महामारी और उससे उत्पन्न अनिश्चितता के कारण योगा और योगविद्या की प्रकाशित प्रतियाँ 2022 में ग्राहकों के लिए उपलब्ध नहीं रहेंगी। इसलिए 2022 में इन पत्रिकाओं के लिए नए सदस्यता आवेदन या पुरानी सदस्यता को बढ़ाने के आवेदन स्वीकार **नहीं** किए जा रहे हैं। अत: इन पत्रिकाओं के लिए सदस्यता आवेदन **मत** भेजिए।

पत्रिकाओं सम्बन्धी परिस्थिति की जानकारी आपको समय-समय पर मिलती रहेगी।

इस बीच श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती और श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की शिक्षाओं को ग्रहण कर उन्हें अपनी दिनचर्या में आत्मसात् एवं अभिव्यक्त कीजिये ताकि आपका जीवन उदात्त और उन्नत बन सके।

आपके स्वास्थ्य, कल्याण और शांति के लिए श्री स्वामी सत्यानन्द जी के आशीर्वाद सहित,

ॐ तत्सत्

सम्पादक